माध्यमिक विद्यालयीय अभिभावक संघ का शैक्षिक क्रियाओं में योगदान : एक अध्ययन

A STUDY : CONTRIBUTION OF THE GAURDIAN ASSOCIATION IN EDUCATIONAL ACTIVITEIS AT THE SECONDRY SCHOOL LEVEL

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी

की

पी0एच0डी0 2001 की आवश्यकता पूर्ति हेतु प्रस्तुत शोधप्रबंध

शोध निर्देशक : -
(डॉ0 दयाशंकर दुबे)
(रीडर)
विभागाध्यक्ष (बी0एड0)
बुन्देलखण्ड कॉलेज झाँसी।

शोधार्थी : -
(सुनील कुमार तिवारी)
(व्याख्याता)
विभागाध्यक्ष (हिन्दी)
आर्मी स्कूल झाँसी।
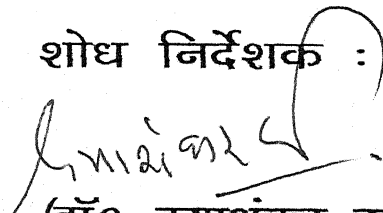
प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है, कि सुनील कुमार तिवारी, विभागाध्यक्ष (हिन्दी) आर्मी स्कूल झाँसी में व्याख्याता के रूप में कार्यरत् हैं। उन्होंने बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय झाँसी की 2001 की पी0एच0डी0 परीक्षा हेतु वांछित प्रस्तुत शोध कार्य मेरे निर्देशन में सम्पन्न किया है।

"माध्यमिक विद्यालयीय अभिभावक संघ का विभिन्न शैक्षिक क्रियाओं में योगदान : एक अध्ययन **(A STUDY CONTIBUTION OF THE GAURDIAN ASSOCIATION IN EDUCATIONAL ACTIVITEIS AT THE SECONDRY SCHOOL LEVEL)**" शीर्षक, यह शोध कार्य इनका अपना मौलिक कार्य है।

शोध निर्देशक :-

(डॉ0 दयाशंकर दुबे)
(रीडर)
विभागाध्यक्ष (बी0एड0)
बुन्देलखण्ड कॉलेज झाँसी।

शोधार्थी :-

(सुनील कुमार तिवारी)
(व्याख्याता)
विभागाध्यक्ष (हिन्दी)
ऑर्मी स्कूल झाँसी।

आभार प्रदर्शन

वर्तमान भौतिक वादी युग में आभार–प्रदर्शन मात्र औपचारिकता रह गया है, किन्तु इसका सम्बन्ध जहाँ भावना से है, वहीं कहीं न कहीं सांस्कृतिक आदर्शो से भी इसका सूत्र जुड़ा हुआ है जिसे सर्वथा नकार देना असंगत, असंस्कारिक है।

उचित पथ प्रदर्शन के अभाव में किसी भी महत्वपूर्ण कार्य की ओर कदम बढ़ना उस पतवार विहीन नौका के समान है जो दिशा ज्ञान के अभाव में किसी तट पर टकरा सकती है।

कार्य संचालन को सुचारू रूप से सुगमता पूर्वक सम्पन्न कराने के लिये अनुकरणीय श्रद्धेय डॉ0 श्री दयाशंकर जी दुबे, रीडर (विभागाध्यक्ष, बी0एड0 विभाग) बुन्देलखण्ड कॉलेज झाँसी का, मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने पथ प्रदर्शक के रूप में पग–पग पर अपने स्नेह युक्त व्यवहार द्वारा, इस जटिल कार्य को पूर्ण कराने में अपना परम् सहयोग दिया।

मैं अपने परम् पूज्य प्रेरणा स्त्रोत पिता जी श्री राजाराम तिवारी पूर्व प्रधानाचार्य,(पं0 राम सहाय शर्मा इण्टर कॉलेज बरूआसागर, झाँसी।) एवम् प्रेरणा पूज्या माता जी श्रीमती डॉ0 शीला देवी तिवारी का हृदय से अभारी हूँ, जिन्होर्ने बचपन से लेकर अब तक, अपना स्नेहिल सम्बल प्रदान कर हमेशा मेरा साहस बढ़ाया। यह शोध कार्य इसी का प्रतिफल है।

विवाहोपरान्त पारिवारिक उलझनों से विरत् रख शोध कार्य में पूर्ण करने में, मेरी धर्म पत्नी श्रीमती नीलू तिवारी अध्यापिका, सेण्ट फ्रांसिस कांन्वेन्ट झाँसी का पूर्ण सहयोग रहा है तथा मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ। क्योंकि उन्होंने हमेशा मुझें पारवारिक दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मुक्त रखा, जिससे यह दुरुह शोधकार्य पूर्ण हो सका।

मैं **Excellent Computer** के संचालक श्री सुनील कुमार अग्रवाल, अन्दर बड़ा गॉव गेट, झाँसी का हृदय से अभारी हूँ, जिन्होंर्ने अल्प समय में इतना बड़ा शोध कार्य मुद्रित किया।

कोई मानव कभी भी पूर्णतः को प्राप्त नहीं होता है। और जब माँ शारदे के वरद पुत्र इस शोध कार्य का अवलोकन करेंगे तो इस कार्य में कमियों का रह जाना निश्चित है। इन कमियों के लिये शोध कर्ता विनम्रता के साथ क्षमा प्रार्थी है।

अन्त में, मैं परम् पिता परमेश्वर का नमन् करता हूँ। जिन्होंने मुझे इस कार्य को पूर्ण करने की शक्ति प्रदान की।

(गुरू पूर्णिमा)
(5 जुलाई 2001)

(अषाढ़ शुक्ल 15
विक्रम संवत् 2058)

शोधकर्ता–

Sunil Tiwari

(सुनील कुमार तिवारी)
(व्याख्याता)
विभागाध्यक्ष (हिन्दी)
ऑर्मी स्कूल झाँसी।

षष्टम् अध्याय

सप्तम् अध्याय

अष्ठम् अध्याय

नवम् अध्याय

दसम् अध्याय

प्रथम—अध्याय

(अ) अतीत कालीन ''अभिभावक–अध्यापक'' संघ की अवधारणा एंव इतिवृति–

शिक्षा में समाज की सहभागिता भारत में लोकतन्त्र के उदय से ही अनुभव की जा रही है। जहाँ तक हमारी अतीत कालीन शिक्षा पद्धति की बात है, वहाँ समाज को शिक्षा से पृथक नहीं किया गया था, समाज के लिये शिक्षा की व्यवस्था की गई थी, जिसमें समाज का चरित्र उत्थान, नैतिक उत्कर्ष मानसिक चेतना आदि। सांवेगिक दृष्टि कोण समाविष्ट थे। वर्तमान में लोकतांन्त्रिक व्यवस्था के अनुरूप मानवीय संवेदनाओं के विकास में शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका तो जरूर अदा करती है, लेंकिन व्यवसायिकता की होड़ में शिक्षा प्रक्रिया में एक अधकचरापन, एवं अपरिपक्वता आ गई है।

बदलते समय की चुनौतियों का सामना करने के लिये प्रत्येक देश अपनी शिक्षा व्यवस्था विकसित करता है। उदाहरण के तौर पर रूस की साम्यवादी व्यवस्था ने सामाज वादी शिक्षा को, संयुक्त राज्य अमेरिका के पूँजीवाद ने व्यवसायिक शिक्षा को एवं इजराइल की सैन्यवादी शिक्षा ने, शिक्षा को सैन्यीकृत करके अपनाया है। तथा हमारे सन्दर्भ में विकासोन्मुख शिक्षा व्यवस्था हमारे अतीत के अनुभवों व वर्तमान की आवश्यकताओ पर निर्भर होकर हमारी जनता के लिये, साथ ही मानवता के लिये, एक अच्छे भविष्य के अतिरिक्त एक अच्छे समाज का सर्वोन्मुखी विकास करेगी।

इन सब विचारो के लिये हमें बिन्दुवार विश्लेषण करने की आवश्यकता है, कि अतीत काल में अभिभावक अपने मौलिक दायित्वों का निर्वाहन किस प्रकार करते थे? तथा अध्यापक किस आधार पर शिक्षा को गति प्रदान करते थे?

वैदिक शिक्षा में अध्यापक अभिभावक संघ का स्वरूप और कार्य शैली–

भारतवर्ष में प्रागैतिहासिक काल से ही मानव को सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करने और उसे जीवन के चारों पदार्थो–धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष की प्रति हेतु शिक्षा को माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। वैदिक ऋषियों ने आदर्श जीवन की अवधि ''जीवेम शरदः शतम्'' द्वारा सौ वर्ष निर्धारित की थी, जिसका विभाजन चार आश्रमों – ब्रहम्चर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी – में विभक्त था। प्रत्येक आश्रम की काल अवधि 25 बर्ष निर्धारित थी। इसी लिए व्यक्ति की शिक्षा प्रक्रिया 25 वर्ष की आयु तक ही चला करती थी। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे चह किसी भी वर्ण या जाति का हो, अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए 25 वर्ष की आयु तक गुरूकुलों में शिक्षा लेने अनिवार्यतः जाना पडता था। गुरूकुलों में शिक्षा प्राप्त करने वालों को ''अन्तेवासी'' कहा जाता था। गुरूकुलों में गुरू और अन्तेवासी छात्र साथ–साथ रहा करते थे। किसी व्यक्ति का पुत्र/पुत्री जब गुरूकुल में प्रविष्ट हो जाता था, तो निर्धारित आयु 25 वर्ष तक उसे अपने परिवार को त्यागना पड़ता था।

गुरूकुलों में भोजन, वस्त्र, चिकित्सीय उपचार आवास आदि की निःशुल्क व्यवस्था की जाती थी। छात्र के लिए गुरु पिता, गुरु-पत्नि माता और समस्त और अन्तेवासी उसके भाई-वहिनें होते थे। सामान्य जीवन की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति करने वाला गुरूकुल ही अन्तेवासी का कुटुम्व परिवार होता था। यह कहना उपयुक्त होगा कि गुरूकुल अपने आप में कौटुम्बिकता लिये हुये विधालय था। गुरु अपने कुल का प्रधान होता था उसकी आज्ञायें, व्यवस्थायें एवं अनुशासन सर्वमान्य होता था। गुरूकुलों के सम्यक् संचालक और आर्थिक संसाधन जुटाने का दायित्व भी गुरु का ही होता था। गुरु राजामहाराजाओं, धनाढय पुरूषों ,अपने पुरातन छात्रों, श्रद्धालु नागरिक, श्रेष्ठियों, व्यापारियों आदि से दान प्राप्त करते थे। यह दान वे भूमि, गौ, खाद्यय सामग्री, राजकीय मुद्रा, सोना-चाँदी और विभिन्न धातुओं पात्रों के रूप में प्राप्त करते थे। अन्तेवासी की शिक्षा पूर्ण होने पर उसे दीक्षान्त के अवसर पर कुछ न कुछ गुरु-दीक्षा देना छात्र सौभाग्य मानते थे। यह गुरु-दक्षिणा कभी गुरुद्वारा निर्देशित होती थी तो कभी छात्र की अन्तःप्रेरणा से स्फूर्त। प्राक्तन छात्र अपने गुरु और अपने गुरूकुल को आजीवन कुछ न कुछ दान अवश्य देते रहते थे। विशेष अवसरों पर विशिष्ट दान देने की प्रथा थी।

गुरूकुलों में खेती-वारी और पशुपालन, और बाग-बानी को व्यापक प्रथा थी। जिससें सभी अन्तेवासी किसी न किसी रूप में सहयोग प्रदान करते थे। जिससे सम्पूर्ण गुरूकुल की आहार और यज्ञादि की व्यवस्थायें पूर्ण होती थी। इस प्रकार गुरु कुल अन्तेवासियों का कटुम्ब-परिवार भी होता था और विद्यार्जन और शिक्षा प्राप्ति का केन्द्र भी होता था।

वैदिक शिक्षा में वालकों की आयु आठ वर्ष की होते ही उसे गुरूकुल में भेजने की प्रथा थी। "लालयेत अष्ठवर्षाणि" के अनुसार वालक को अपने माता-पिता या अभिभावक का लाड प्यार और स्नेह मात्र आठवर्ष की आयु तक ही मिलता था। उसके बाद उसे गुरूकुल में प्रविष्ट होकर शिक्षा प्राप्त करनी पडती थी।

आठ वर्ष का अबोध वालक जब गुरूकुल में प्रविष्ट होता था तो, गुरु उसके जीवन में अनुशासन-प्रक्रिया का प्रारम्भ उपनयन संस्कर से करते थे। और संस्कारो की लम्बी प्रक्रिया द्वारा उसके शरीर, उसके आत्मा और उसके आचरणों एवं चरित्रों को संस्कारित करते थे। संस्कार की यह प्रक्रिया पच्चीस वर्ष की आयु तक निरन्तर चला करती थी। इस संस्कार-प्रक्रिया का सम्यक् संचालन गुरु की देख-रेख और उनके नियंत्रणाधीन होता था।संस्कारों के आधार पर गुरु छात्र की क्षमताओं, रूचियों, प्रतिभाओं और परिस्थितियों का सम्यक् आकलन और मूल्यांकन कर उसका वर्ण निधारित करते थे। "जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात द्विजुच्चते" आध्यात्मिक रूचि सम्पन्न छात्रों को द्विज, अर्थकारी विद्या में पारंगत छात्र को वणिक, साहसिक प्रवृत्ति से छात्र को क्षत्रिय और अन्य छात्रों को जा उपरोक्त तीन क्षमताओं से विपन्न होते थे, उन्हें सेवार्थ शूद्र-वर्ण निर्धारित किया जाता था। सत्रह वर्ष के लम्बे अन्तराल में यदि किसी छात्र के संस्कारों में गुरु परिवर्तन देखते थें तो, उसका वर्ण परिवर्तित कर देते थे। इस प्रकार गुरु वर्ण-स्रष्टा, समाज-निमार्ता और छात्र-जीवन का निर्धारिक होता था।

गुरू के मूल्याकंन और आकलन को कहीं भी, कोई भी चुनौती नही दी जाती थी, क्योकि गुरु का निर्णय पूर्ण पारदर्शी, छात्रहितकारी और सम्पूर्ण समाज के व्यापक–हितपरक होता था। गुरूओं में त्रिदेव शक्ति होती थी, और वे–

"गुरूर्ब्रह्मा, गुरूविष्णुः, गुरूदेवोमहेश्वरः ।
गुरु साक्षात् परब्रह्मं, तस्मैं श्री गुरवे नमः।।"

के रूप में स्थापित होते थे।

गुरूकुलों में गुरूओं, कुलपतियों का महत्व सर्वोपरि होता था। वे छात्रों के शिक्षक भी थे और वनो में स्थित गुरूकुलों में रहने वाले–परिवारछिन्न छात्रों के संरक्षक और अभिभावक भी होते थे। कुलपति ही सभी छात्रों एवं गुरूओं की भोजन, वस्त्र, आवास, चिकित्सा, संस्कार और शिक्षा की व्यवस्था करते थे। उन्हें अपने छात्र प्राणों से भी अधिक प्रिय होते थे, उनकी सुख–सुविधा, शिक्षा–दीक्षा, अनुशासन और संस्कार को कुलपति अपना कर्तव्य मानते थे। संयमी जीवन की श्रेष्टचर्या भी उन्हीं के संरक्षण में संचालित होती थी।

प्रकृति के खुले वातावरण में छात्र प्रकृति से तादात्म्य प्राप्त कर, निरोग जीवन व्यतीत करते थे। कदाचित कोई छात्र किसी कारण बीमार हो जाता तो, गुरु वर्ग छात्र का उपचार प्राकृति पद्वति से, योग से, आयुर्वेद चिकित्सा से आश्रम में ही उपलब्ध जडी–बूटियों से करते थे। गुरूकुलों में गुरूमातायें छात्रों को अपने कुक्षि–जात सन्तानों से भी अधिक स्नेह प्रदान करती थी। उनका ममता पूर्ण मातृ स्नेह एवं सुश्रुषा और प्रभावी परिचर्या बीमार छात्र को शीघ्र ही न केवल उसे रोग मुक्त ही कर देती थी वरन् उसे रोग–पूर्व स्थिति से भी अधिक ओजस्वी और बलवान बना देती थी।

इस प्रकार गुरूकुलों में पिता/अभिभावक की भूमिका गुरु वर्ग ही निभाता था। गुरूमातायें अपनी ममतामायी व्यवस्थाओं से छात्रों को उनकी अपनी माता की सुधि भी भुला देती थी। मित्र मण्डली और पारिवारिकता पूर्ण वातावरण समस्त अन्तेवासी छात्रों में अपने धर परिवार की स्नेहिल अनुभूतियों उत्पन्न करती थी। अन्तेवासी छात्रों की वेशभूषा, दैनिक चर्या, साहचर्य और बान्धवता पूर्ण वातावरण, शिक्षा प्रक्रिया की एक रूपता भिन्न–भिन्न परिवारों और भिन्न भिन्न परिवेशों से आने वाले छात्रों से एकत्व और अपनत्व की एक ऐसी स्रष्टि कर देता था कि वे "अयंनिजः, परोवेत्ति" भूल कर वसुधैव कटुम्वकम की उदारता से परिपोषित हो जाते थे। गुरूकुल का आश्रम उनका अपना होता था। वहाँ के जड़ और चेतन सभी प्राणी एवं पदार्थो से उनका निजी लगाव हो जाता था। वहाँ के मनुष्य, पेड़–पौधे, पशु–पक्षी, संगी–साथी उनके अपने स्वजन हो जाते थे। गुरूकुल को सत्रह वर्ष तक अपना मानने के कारण छात्र जीवन भर के लिए गुरूकुल से जुड़ जाता था। जिस प्रकार गुरूकुल छात्रोंके सुख–दुख का साथी होता था उसी प्रकार गुरूकुल से शिक्षा प्राप्त कर सामाजिक जीवन जीने वाला प्रत्येक नागरिक अपने गुरु कुल का आजीवन सुख–दुख का साथी बना रहता था।

छात्रों गुरूओं में परस्पर आत्मीयता का विस्तार इस सीमा तक हो जाता था, कि छात्र गुरू को "गुरू देवो भव" मानता था। तो गुरू भी अपने शिष्य को अपने श्रेष्ट स्तर पर आसीन देखने की लालायित रहता था।

"पराजयं कॉक्ष्येत शिष्यात् पुत्रात् च।"

शिक्षा शास्त्र के इतिहास के अदययन करने से ज्ञात होता है कि शैक्षिक प्रक्रिया को एक चतुर्भुजीय आयत के रूप में रूपायित किया जाता है। जिसकी चार भुजाये निम्न है---------

(1) शिक्षार्थी (छात्र)।
(2) शिक्षक (गुरू)।
(3) अभिभावक (माता पिता)।
(4) पाठ्यक्रम या शिक्षा तत्व।

विभिन्न युगों मे तथा विभिन्न देशों में इन चार भुजाओं में से किसी एक भुजा य तत्व की प्रधानता स्वीकार की गई हैं। आधुनिक युग में शिक्षा छात्र प्रधान है अन्य तत्व गौण है, शिक्षा के केन्द्र में विधार्थी को रखा गया है उसकी रूचि-अरूचि, सामर्थ्य-शक्ति और प्रतिभा को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। स्पार्टा में पाठ्य क्रम पर सबसे अधिक जोर डाला जाता है हुकुमत में हमारे देश में पाठ्य क्रम प्रधान शिक्षा रही। पाठ्य क्रम का निर्धारित भी मैकाले के विचारानुसार इस प्रकार किया जाता था कि अंग्रेजी पढ़ लिख कर भारतवासी क्लर्क या बाबू वन जाते और अपनी सभ्यता और संस्कृति से कट जाते। इंग्लैण्ड अमेरिका में बहुआयाम पाठ्य क्रमों की अधिकता के कारण अभिभावको की रूचि और आवश्यकता के अनुसार पाठ्यक्रम का चयन करने की बात को प्रमुखता प्रदान की गई।

किन्तु भारतवर्ष में विशेष रूप से वौदिक कालीन शिक्षा वास्तव में शिक्षक प्रधान शिक्षा रही है। अभिभावक, गुरू के चयन को सबसे अधिक महत्व देता था। जैसा गुरू होगा वैसी ही छात्र की शिक्षा होगी। सम्पूर्ण समाज में यही ध ारणा विद्यमान थीं। गुरू का ज्ञान अनुशासन, चरित्र और आदर्श छात्रों में प्रतिफलित हो।यही कामना प्रत्येक अभिभावक के ह्दय में होती थी। तभी वे निश्चिन्त हो अपने बालक को सत्रह वर्षीय दीर्ध कालीन पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए गुरू के हाथों में सौप देते थे। और गुरू बालक का मात्र शिक्षक ही नहीं होता था वरन् उसका दैहिक, दैविक, भौतिक और आध्यात्मक मार्ग दर्शक भी होता था। पौराणिक काल तक यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही। वैदिक काल में अध्यापक और अभिभावक दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं होते थे। अध्यापक ही शिक्षा प्रक्रिया में अभिभावक की भूमिका निभाते थे। अनेक गुरूओं के समुदाय को गुरूकुल कहा जाता था। गुरूकुल अपने आप में एक शैक्षिक संघ था। जिसके दो ही अंग थे गुरू और शिष्य। गुरू शिक्षक होने के साथ ही छात्र का अभिभावक या संरक्षक होता था जो छात्र की सर्वतोन्मुखी प्रगति का कारक, प्रेरक , और पोषक होता था। इसी प्रकार छात्र भी वैदिक शिक्षा में केवल छात्र मात्र ही नहीं होता था वरन् गुरूओं के लिए पाल्य भी होता था।

शिक्षा प्रारम्भ करने के साथ ही छात्र के पालन पोषण सुरक्षा और समुन्नति का दायित्व भी गुरु का होता था। गुरुकुलों के आश्रम में छात्र के न तो माता पिता रहते थे और न कोई अन्य औपचारिक अभिभावक ही रहता था। ऐसी स्थिति में आश्रम वासी गुरु और गुरुमाता में ही अन्तेवासी के अभिभावक होते।गुरुकुल नामक संस्था ही एक मात्र संस्था थी, जो अध्यापक और अभिभावक दो भिन्न भिन्न संस्थाओ का समन्वय या उनका एकीकरण प्रतीक होती थी।

आधुनिक अध्यापक अभिभावक संघ वास्तव में छात्र जीवन के दो ऐसे पक्षों को सहकारित और सहायता के आधार पर एक संस्था के रूप में रूपायित करने का सयास प्रयत्न है, जबकि हमारी वैदिक कालीन शिक्षा प्रक्रिया में गुरुकुल ही एक ऐसी संस्थान थे जो अध्यापक और अभिभावक दोनों संस्थाओ के दायित्वों को एक संस्था के रूप में निभाते रहे। गुरु एक संस्था किन्तु दो संस्थाओ दो दायित्व वाहक थे। जवकि आधुनिक अध्यापक अभिभावक संघ दो भिन्न भिन्न उत्तरदायित्वों को वहन करने वाली संस्थाओ में सहयोग और साहचर्य स्थापित कर समन्वय का एक प्रयास है।

वैदिक शिक्षा आश्रम प्रणाली पर आधारित गुरुकुल की शिक्षा थी। गुरुकुल आश्रम एक ऐसा वृहद संस्थान था, जिसकी दो संस्थायें शिष्य संस्था, गुरु संस्था थी। गुरु, संस्था का श्रेष्ठतम् स्वरुप था उसका शिक्षक अभिभावक रूप। गुरु एक संस्था था किन्तु दुहरे दायित्व का पालन करता था। जो स्वाभावाविक अकृत्रिम और सद्भावना की उच्च पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित था। छात्रों के लिये निम्नलिखित तीन वाक्य, आदर्श वाक्य थे जो गुरु को माता और पिता का सम्मान देवत्य की भाँति प्रदान करता था।

"मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्यदेवो भव"

अतीत काल में शिक्षालय गुरुकुल के रूप में स्थापित थे और बैसे समय में अभिभावक राजा एवं महाराजाओ की शिक्षा के प्रति उदार दृष्टि कोण था जो आजकल प्रायः परिलक्षित ही नहीं होती है अतीत काल में शिक्षा को धर्म का स्थान दिया जाता था, फलतः शिक्षा व धर्म एक दूसरे के समकक्ष स्थापित थे, ऐसी स्थिति में गुरुकुल व गुरुकुल में शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक, समाज व अभिभावको दोनो के लिये पूज्य थे। और वैसी स्थिति में शिक्षक व्यष्टि बलि के बाद समष्टि उत्थान में एकाग्र चित रहते थे। इस प्रकार अतीत काल में व्यक्ति स्वयं से ऊपर समाज, समाज से ऊपर नैतिक मूल्य और नैतिक मूल्य से ऊपर शिक्षा को स्थान देते थे।

इसके लिये वैदिक युग में ऋग्वेद में शिक्षा पद्धति दो का पूर्व रूप थे। जिसमें ऋषिगण अपने आश्रमों पर ही ब्रह्मचारियों अथवा व्रताचारियों को शिक्षा देते थे। व्रताचारी नाम इस लिये पड़ा कि ब्रह्मचारियों को अपने जीवन में कुछ व्रतों और संयमो आदि का पालन करना पड़ता था। दूसरी वह जो संघों द्वारा संचालित थी। संघ वे उच्च संस्थाएँ थी जहाँ विद्वान लोग, लोक भाषाओं में विचार विनिमय करते थे। संघ शब्द जो बाद में बौद्व धर्म का मुख्य अंग बना ऋग्वेद

से ही निकला है। संघ वे उच्च संस्थाऍं थी जहॉं विद्वान लोग, लोक भाषाओं में विचार विनिमय करते थे। संघ शब्द जो बाद में बौद्ध धर्म का मुख्य अंग बना ऋग्वेद से ही निकला है।

ऋग्वेद के अन्त में लिखा है कि वह शिक्षा व्यर्थ है जिसमें बिना समझे ऋक् को पढ़ा जाय। वैदिक मंत्रों को आत्मसात करने के लिये गहन अध्ययन और मनन अपेक्षित है। जैन धर्म और बौद्ध धर्म में इस प्रकार की शिक्षा के प्रति समाज की सहभागिता का उल्लेख देखने को मिलता है। शिक्षा को धर्म के साथ समन्वित कर विभिन्न राजा-रजवाडों ने शिक्षा और धर्म का प्रचार प्रसार किया और शिक्षा प्रक्रिया में होने वाले आर्थिक व्यय की सम्पूर्ति आदि काल से विभिन्न रूपों में होती रही है। वैदिक कालीन शिक्षा में गुरुकुल से लगी हुई खेती (कृषि) योग्य भूमि, राजकीय सहायता एवं बटुकों द्वारा भिक्षायापन के माध्यम से शिक्षा के लिये आर्थिक संसाधन जुटाये जाते थे। राजकोष का दसवॉं भाग शैक्षिक कार्य के लिये अनुदानित किया जाता था। प्रत्येक अभिभावक के लिये उसकी कमाई का दसवॉं भाग ऋषि ऋण की अदायगी हेतु बचाया (प्रयोग) जाता था। और शिक्षा एवं शिक्षालयों की आवश्यकताओं को पूरा किया जाता था।

मुगल काल से लेकर अब तक का अध्यापक अभिभावक संघ का स्वरूप और कार्यशैली-

मुगल कालीन शिक्षा व्यवस्था में मदूरसों और मकतबों को सरकार की ओर से व्यक्तिगत रूप से सम्पन्न अभिभावकों की ओर से इम्दाद की जाती थी। वास्तव में इस्लाम धर्म के चार अंग थे - (1) हज (2) रोजा (3) नमाज (4) जकात । इस्लाम धर्म के चौथे भाग जिसे जकात कहा जाता था, हर मुस्लिम अभिभावक को अपनी नेक कमाई का 1/10 (एक/दस) भाग जकात के रूप में देना अनिवार्य था। इस जकात से समाज के मजलूम व यतीम लोगों की मदद की जाती थी। इसी जकात में से और भी शबाब (पुण्य) के काम किये जाते थे। जिनमें मकतबों और मदरसों की इम्दाद भी शमिल थी।

बर्डे-बर्डे नबाब, बर्डे पेशेवर तथा राजधरानों से सम्बन्धित व्यक्ति भी विधालय को दान दिया करते थे। और तालीम में होने वाले खर्च में हाथ बटातें थे। इस प्रकार सरकारी इम्दाद, व्यक्तिगत जकात के सहारे मकतबों एवं मदरसों को अच्छा आर्थिक आधार प्राप्त हुआ।

अग्रेंजी हुकुमत के समय अभिभावकों को शिक्षा प्रकिया से प्रायः विलग सा ही कर दिया। जिससें न तों हर आम व्यक्ति अपने पाल्यों को आवश्यक शिक्षा दिला पाता था, और न ही शिक्षा सम्बन्धी विसंगतियों पर टीका-टिप्पणी। ऐसी स्थिति में शिक्षा मात्र ब्रिटिश हुकूमत के हुकुम की गुलाम हो गयी और पश्चात् शक्तियॉं की आवश्यकता पर केन्द्रित।
ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक कम्पनी होने कें कारण, भारतीयों को शिक्षा पर कम से कम धन व्यय करना चाहती थी। अतः उसने निस्यन्दन सिद्धान्त (Filtration theory) का प्रतिपादन किया, कि शिक्षा का नियोजन केवल उच्च वर्गो के व्यक्तियों के लिये किया जाय, क्योंकि शिक्षा इन वर्गो के व्यक्तियों से छन

–छनकर स्वयं हो निम्न वर्गो के व्यक्तियों तक पहुँच जायेगी। इस सिद्वान्त के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुये, अरधर येहन ने लिखा है–''शिक्षा ऊपर से प्रवेश करके, जनसाधारण तक पहुँचनी थी। लाभप्रद ज्ञान, भारत के सर्वोच्च वर्गो से बूँद–बूँद करके नीचे टपकना था।

***(Education was to permeate the masses from aboy. Drop by drop from Himalaya of the Indian life useful in for nation was to trickle down wards.**

इस प्रकार से मुगल काल के उपरान्त से भारतीय अभिभावकों की भूमिका को सर्वथा नकार दिया गया और शिक्षा की स्वच्दन्द परम्परा जो अतीत काल से चली जा रही थी। एकदम लुप्त प्रायः हो चली थी। अग्रेंजी हुकुमत में पश्चमी व्यवस्था के अनुसार विद्यालयों को राजकीय सहायताएँ ''ग्राण्ट इन ऐड'' दी जाती थी।

राजवार्डो में राजा रईस लोग अपने प्रभाव वृद्धि के लिये विधालयों को उदार मन से दान दिया करते थे। और शिक्षा के पावन यज्ञ में उनकी यज्ञाहुतियों भी पडती रहती थी। उन दिनों न तो छात्रों से चन्दा वसूल किया जाता था और न ही अध्यापकों का पेट काट्कर विधालय विकास किया जाता था।

चूंकि विद्यार्थी समाज में अभिभावक के साथ तथा विद्यालय में अध यापक के साथ अपना समय गुजारता है, ऐसी स्थिति में विद्यार्थी के विकास में अभिभावक और अध्यापक दोनों की भागीदारी समान रूप से है और अगर कोई एक पक्ष अपने आप को इस प्रक्रिया से अलग कर लेता है, तो विद्यार्थी के विकास में एक गतिरोध पैदा हो जाता है। अतीत काल में एक शिक्षक के लिये परमावश्यक होता है कि वह बालक की प्रकृति समझे, क्योंकि आधुनिक बाल मनोवैज्ञानिक के अनुसार दो बालकों में रंग, रूप, सोचने समझने व संावेगिक रूप से व्यक्तिगत विभिन्नतायें पायी जाती है। श्रीमद् भगवदगीता में कहा गया है कि–

**''सद्वशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेज्ञनिवानपि ।
प्रकृति यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करष्यािति।।''

वेदान्तिक व्यवस्था में शिक्षक और शिक्षार्थी गुरूकुल में ही रहकर विद्याध्ययन किया करते थे। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी अध्यापक का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनुकरण करते थे। अतः अध्यापक की भाषा, रहन–सहन, व्यवहार आदि सभी बातें अनुकरणीय होती थी। शंकराचार्य जी लिखते है।–

प्रत्येक विधार्थी को ऐसे अध्यापक से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए,जिसका मन स्वस्थ्य हो, जो संयमी हो तथा जिसमें अपने छात्र के लिये प्रेम हो। वर्तमान मे प्रत्येक शिक्षक किसी विशिष्ट विषय का अध्यापन करता है।

---

*ARTHUR MAYHENVT book "The eduation of India p 92"

**(अध्याय 3,श्लोक 33)

और उस विशिष्ट विषय का व्याख्याता, प्रवक्ता, प्राध्यापक, अध्यापक, आदि कहलाने में वह गर्व अनुभव करता है। गर्व की अपेक्षा यह चिन्ता का विषय होना चाहिये, कि अध्यापक को विषयकी जगह जीवन का शिक्षक होना चाहिये। किसी विषय का पण्डित अगर जीवन की समस्याओं से अपरिचित है, तो वह विषय का सच्चा ज्ञाता भी नहीं कहा जा सकता, शिक्षक तो दूर की बात है। शिक्षक का शिक्षकत्व इसी में है कि वह बालक के सम्पूर्ण रहस्यों से परिचित हो और जीवन के सन्दर्भ में अपने विषय को सम्पूर्ण ज्ञान की एक शाखा के रूप में ही पढाए। तभी वह सच्चा शिक्षक होता है, अन्यथा नहीं। जैसे-जैसे अध्यापक का अनुभव बढता जाता है, वैसे-वैसे वह स्वयं ही अधिक पूर्ण होता जाता है। आरम्भ में उसे प्रत्येक विद्यार्थी भिन्न दिखायी देता है धीरे-धीरे वह छात्रों की समानता समूहगत देखनें लगता है और शनैः-शनैः भिन्नतायें लुप्त होने लगती है, तथा उसे सभी छात्रों में एकता दिखायी देने लगती है।

अतीत काल में शिक्षकों द्वारा एक नैतिक आचार संहिता का प्रतिपादन किया गया था, जिसमें हर अभिभावक अपने आपको ढालने का पूर्ण प्रयास करता था। लेंकिन कृतियुग के बदलते परिवेश ने, शिक्षक और अभिभावक दोनों को उत्तरदायित्व विहीन बना दिया है। इस प्रकार की, उत्तरदायित्व विहीनता से सबसे अधिक दिशाहीनता का सामना प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप से छात्र को करना पडा। फलतः उसकी शैक्षिक क्रियाओं में जडता आ गई।

(ब) लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र में बदलती अवधारणा-

शिक्षा, अध्यापक तथा अभिभावक की अवधारणाऐं लोकतान्त्रिक राष्ट्र में प्रतिपल बदलती रहती है। देखा यह गया है कि राष्ट्र अपनी आवश्यकतानुसार अपनी शिक्षा पद्वति में आमूल-चूल परिवर्तन कर लेता है। लेंकिन भारत जैसे लोकतान्त्रिक राष्ट्र में जहाँ विभिन्न क्षेत्रीय भाषाऐ धर्म, जाति, सम्प्रदाय, आज भी अपना प्रभाव आंचलिक परिवेश में बनाये हुये है, वैसी स्थिति में शैक्षिक जगत में एक सूत्रता का अभाव देखा जाता है। लेंकिन फिर भी विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न शिक्षा आयोग ने शिक्षा में समाज की सहभागिता के लिये निर्दिष्ट किया है। किन्तु इसकी सबल तम अभिव्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षा आयोग सन् 1968 लिखित शब्दों में अवधरित की गई। सम्पूर्ण राष्ट्र में शिक्षा की समान संरचना को लक्ष्य कर सभी राज्यों में 10 2 3 की प्रणाली को मान लिया गया । जोकि राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूल-भूत उपलब्धि थी। साथ ही साथ माध्यमिक स्तर पर विज्ञान और गणित को अनिवार्य विषय बनाना, और कार्यानुभव को महत्वपूर्ण स्थान देना, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की मौलिक उपलब्धि दी।

वर्ष 1976 का संविधान संशोधन जिसके द्वारा शिक्षा को राज्य सूची तक ही सीमित न रखकर समवर्ती सूची में शामिल किया गया,जो शैक्षिक संसार के लिये क्रांतिकारी कदम था। इस संशोधन में निहित है, कि शैक्षिक, वित्तीय तथा प्रशासनिक दृष्टि से, राष्ट्रीय जीवन से जुडें हुए, इस महत्वपूर्ण मामलों में केन्द्र और राज्यों के बीच दायित्वों की नयी सहभागिता का समन्वयन स्थापित हो।

शिक्षा के क्षेत्र में राज्यों की भूमिका और उनके दायित्वों में मूलतः कोई परिवर्तन नही होगा। लेकिन केन्द्रीय सरकार निम्नलिखित विषयों में अब तक से अधिक जिम्मेदारी स्वीकार करेगी। शिक्षा के राष्ट्रीय समकलनात्मक (इन्टीगेटिव) रूप को बल देना। गुणवत्ता, एवं स्तर बनायें रखना। (जिसमें सभी स्तर, शिक्षकों के शिक्षण, प्रतिशिक्षण की गुण बचा एवं स्तर शमिल है।)

विकास के निमित्त जनशक्ति की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये शैक्षिक व्यवस्थाओं का अध्ययन की जरूरतों को पूरा करना, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव संसाधन विकास के अर्न्तराष्ट्रीय पहलुओं पर ध्यान देना और सामान्य तौर पर शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर उत्कृष्टता लाने का निरन्तर प्रयास। समवर्तिता एक ऐसी भागीदारी है जो स्वयं में सार्थक व चुनौती पूर्ण है, और राष्ट्रीय शिक्षा नीति इसे हर मायने में पूरा करने हेतु उन्मुख रहेगी।

कोठरी आयोग सन् 1964 से 1668 की संस्तुतिओं के आलोक में शिक्षा प्रक्रिया में विधार्थियों के माता-पिता का सहयोग प्राप्त करने के निमित्त उ0प्र0 सरकार के शिक्षा निदेशक डॉ0 एस0 एन0 महरोत्रा ने सर्व प्रथम अभिभावक अध्यापक सहयेग हेतु अपने अर्धशसकीय पंत्राक / शिविर 22756, 836 दिनाँक 26 सितम्बर 1975 द्वारा शासन से मिलकर एक योजना बनाई। उसे 2 अक्तूबर 1975 (गाँधी जयन्ती) से लागू करने की इच्छा भी व्यक्त की। उक्त पंत्र का मूल पाठ संलग्न किया जा रहा है। उक्त पत्र में कुल आठ विचार बिन्दु थे-

(1) अध्यापकों अभिभावकों को निकट लाने की उपयोगिता ।

(2) विधार्थी विधालय में 6 धंटें और शेष 18 धंटे समाज में व्यतीत करता है। अतः उसकी 1/4 क्रियाऐं विधालय में और 3/4 विधालय के बाहर जिन पर शिक्षकों के अतिरिक्त अभिभावकों का प्रभाव रहता है। अतः छात्र के समन्वित विकास के लिये दोनों की समझ दारी आवश्यक है।

(3) अध्यापक अभिभावक समिति के उद्देश्यों, गठन एवं कार्य संचालन आदि का उल्लेख है। सातवें बिन्दु में अभिभावकों शिक्षा निदेशक उ0प्र0 डॉ0 एस0 एन0 महरोत्रा का पत्र द्वारा महीनें में एक बार अभिभावकों के द्वारा विद्यार्थियों से प्रश्नोत्तर कर उनकी परीक्षा लेने का अधिकार भी दिया गया था। तथा आठवें बिन्दु में बुक बैक की स्थापना करने का भी सुझाव था।

इस पत्र को उ0प्र0 प्रधानाचार्य परिषद ने अपने ग्रीष्म कालीन शैक्षिक विचार गोष्ठी ऋषिकेष दिनाँक 6,7,8 जून 1986 को श्री शरदेन्दु उपशिक्षा निदेशक शिविर कार्यालय की अध्यक्षता में इसकी नियमावली आदि को सर्व-सम्मत स्वरूप प्रदान किया । जिससे प्रधानाचार्य परिषद ने अपने प्रस्ताव संख्या 14 में निम्न लिखित शब्दों के द्वारा स्वीकार किया।

"विधालय का सुचारू संचालन, छात्रों पर अधिकाधिक संसाधन जुटाने अर्थात् कुल मिलाकर संस्थाओं को सामाजिक चेतना का केन्द्र बनाने के लिये

अध्यापक अभिभावक संघों को व्यवस्थित किया जाये और इस सम्बन्धमें शिक्षा निदेशक के उपरोक्त अर्धशासकीय पत्र दिनाँक 26.9.1975 को आधार बनाकर इसे व्यवहारिक स्वरूप दिया जाय तथा विनिमयों में सुधार कर इसे व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया जाये। जन सहयोग के अभाव में आज किसी व्यवस्था को चलाया जाना असंभव है, और जनहित के लिये शिक्षा तो जन सहयोग से ही चलायी जा सकेगी।''

संसार में लोकतंत्र का उदय और उसकी पृष्ठभूमि–

राजतंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकबाद तथा सम्राज्यवाद एवं तज्जन्य उपनिवेशवाद की भीषण विकृतियों संत्रस्त सम्पूर्ण विश्व का लोक मानस विक्षुन्ध हो हा–हा–कार करने लगा था। ब्रिटिश सम्राज्य का विस्तारवादी नीतियों ने विश्व का 80 प्रतिशत भाग अपने उदरस्थ कर लिया था। नई दुनियाँ कही जाने वाली उत्तरी अमेरिका और दक्षिणी अमेरिका की स्वतंत्रता को ब्रिटिश सम्राज्य लील चुका था। एशिया, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खूनी पंजे शोषण, दमन और अत्याचार करने में संलग्न थे। ब्रिटिश सरकार उपनिवेशों की स्थापना करने में ही अपना प्रभुत्व जमा रही थी। और सभी उपनिवेशित राष्ट्रों का आर्थिक , राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक शोषण कर अपने साम्राज्य का विस्तार कर अपना झण्डा यूनियन जैक फहरती दूसरों को गुलाम और अपने आपको बादशाह वनाती चली जा रही थी।

दासता शोषण और क्रूर अत्याचारों से दुखी उपनिवेशित राष्ट्रो में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ विद्रोह के स्वर फूटे। अमेरिका का स्वतंत्रता संग्राम, रूस की जनक्रांति, चीन का संघर्ष, अफ्रीका का स्वतंत्रता अभियान तथा भारतवर्ष सहित सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया के स्वतंत्रता संघर्षो के प्रयास जो कभी हिंसक और कभी अहिंसक रूप में प्रगट हुए। उसी विद्रोह की श्रृंखला की कडियाँ बनी। उपरोक्त रक्त क्रान्तियों व अहिंसक आन्दोलनों के फलस्वरूप विभिन्न राष्ट्रो को विभिन्न चरणों में मुक्ति मिली और संसार में साम्राज्यवाद का अन्त हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विश्व पटल पर लोकतंत्र का उदय अमेरिका से हुआ। प्रायः सभी नव स्वतंत्र राष्ट्रो ने लोकतंत्र को प्रशासन की सबसे श्रेष्ट विद्या मानकर स्वीकार किया। यहाँ तक साम्यवादी विचारों वाला रूस भी लोकतंत्र (चाहे सीमित अर्थो में सही) को नकार न सका और अपने राष्ट्र को समाजवादी लोकतंत्र के नाम से उद्घोषित करने लगा। उसने अपने राष्ट्र का नाम (यूनियन ऑफ सोशलिस्ट) सोवियत रिपब्लिक रखा।

पाकिस्तान में फौजी तानाशाह श्री अयूव खाँ को भी विवश हो पाकिस्तान के लिए Basic-Democracy की घोषणा करना पड़ी।इस प्रकार यह सिद्ध है कि विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र लोकतंत्र पद्वति की श्रेष्ठता को स्वीकार कर चुके है। आज लेकतंत्र समूचे संसार के लिए एक आदर्श जीवन दर्शन वन गया है। लोकतंत्र में ऊँच–नीच, निर्धन–धनवान, पुरूष–स्त्री, जाति–वर्ण का

भेद-भाव किए विना सभी का कल्याण निहित है। सर्वोदय की यह भावना लोकतंत्र के माध्यम से ही सफली भूत हो सकती है।

इसीलिए-

L. Kandel का मत-

"Democracy, as anideal, is a war of life based on freedom and responsibility of indirdral"

*"आदर्श के रूप में लोकतंत्र जीवन की एक शैली है जो स्वतंत्रता और व्यक्ति के उत्तरदायित्व पर आधारित है।"

<u>लोकतंत्र के आधार-</u>

श्री कण्डेल के मतानुसार लोकतंत्र के दो आधार है (1) स्वतंत्रता (2) व्यक्ति के उत्तरदायित्व-जिन्हें हम नागरिक के अधिकार और कर्तव्य के रूप में ग्रहण कर सकते है।वास्तव में अधिकार और कर्तव्य एक सिक्के के दो पहलू है। जो परस्पर एक दूसरे के आश्रित और पूरक है। किसी राष्ट्र की राजनैतिक चेतना इन्हीं दो पक्षों पर टिकी रहती है। सचेत नागरिक को अपने अधिकारों का सम्यक् ज्ञान होना आवश्यक है और उनके सम्यक् प्रयोग की जानकारी कारना उसका परम कर्तव्य भी है। एक नागरिक का जो अधिकार है वही दूसरे नागरिक के लिये उसका कर्तव्य होता है। वहीं दूसरे को अधिकार अैर कर्तव्यों का ज्ञान और उनका विधिवत् प्रयोग करना आवश्यक प्रक्रिया है। इन दोनों आधारों पर ही लोकतंत्र क्रियमाण होता है।

लोकतंत्र की प्रशंसा प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षा शास्त्री **H.H. Horne** श्री ने निम्नांकित शब्दों में की है-

"Democracy has been described as religion applied to polities and the kingdom of heaven has been described as democracy applied to religion"

**"लोकतंत्र राजनीति में व्यवहार धर्म है और स्वर्ग का राज्य धर्म में व्यवहृत लोकतंत्र है।"

इस प्रकार हम देखते है कि धर्म महोदय को लोकतंत्र प्रणाली में धार्मिक पवित्रता का आभास होता है उनके मतानुसार धर्म व्यवहत् लोकतंत्र का शासन वास्तव में स्वर्ग का राज्य है।

---

*शिक्षा-दर्शन- (लेखक रामशकल पाण्डेय) पृ. सं. 394

**शि. द. (395)
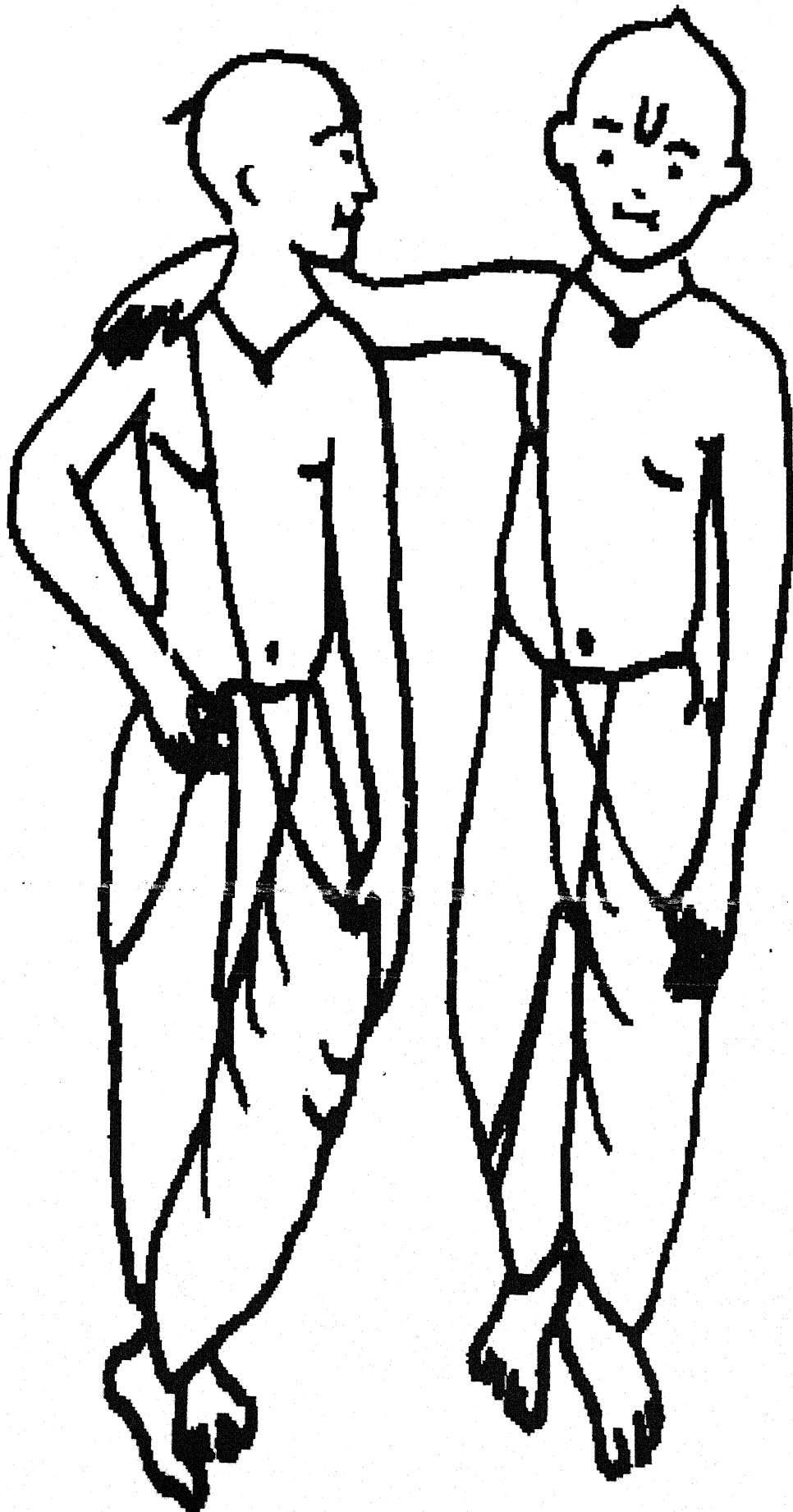
लोकतंत्र की परिभाषा–

लोकतंत्र के इस युग में अमेरिका अग्रणी राष्ट्र है। वह नवीनतम राष्ट्र होते हुए भी प्राचीनतम लोकतांत्रिक राष्ट्र है और उसे लोकतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति अब्राहमलिंकन जिन्हें फादर ऑफ नेशन कहा जाता है, ने लोकतंत्र की परिभाषा निरूपित करते हुए कहा है––

"Democracy is government of the people for the people & by the people"

*"जनता का शासन, जनता के हित के लिए, जनता द्वारा निर्मित करना ही लोकतांत्रिक शासन प्रणाली है।"

जनमत या लोकतंत्र ऐसी शासन संचालन प्रणाली है जो व्यक्ति को मानवाधिकार देने का पूर्ण प्रयत्न करती है। जनता में पारस्परिक मत भेद होते हुए भी कन्धे से कन्धा लगाकर कार्य करने की प्रवृत्ति एवं वहुसंख्यक और अल्प संख्यक का अन्तर होते हुए भी सम्पूर्ण राष्ट्र के कल्याण के लिए प्रयास करना आदि विशिष्टतार्ये केवल लोकतंत्र में ही सम्भव है। लोकतंत्र, लोककल्याण, लोकहित को केन्द्र मानकर सम्पन्न किया जाता है। लोकहित, लोक सहभागिता, लोक मन्त्रणा और लोक नियंत्रण आदि लोकतंत्र को सजीव रखने के लिए अनिवार्य तत्व है।

लोकतांत्रिक राष्ट्रो की बदलती हुई सामान्य धारणार्ये–

आज़ का प्रत्येक लोकतंत्रात्मक राष्ट्र अपने पूर्ण अनुभव में विदेशी दासत्व, दमन, शोषण, उपेक्षा और विकास विहीनता की दुखद अनुभूतियाँ समेट रही है। अतः लोकतंत्र की स्थापना के साथ ही उसके अन्तस उपरोक्त भावों के विपरीत प्रभुत्व, नवोत्थान, शोषण–मुक्ति नई नई अपेक्षाये और विकास करने के नए नए संकल्प उदित हुए। सामान्यतः सभी राष्ट्र की अवस्थार्ये धोर पतन, निराशा, विकासहीनता, अज्ञान और आपसी फूट एंव भेद भाव पूर्ण थी। अतः चतुर्मुखी विकास के नये संकल्पों के साथ वे राष्ट्रोत्थान के पावन प्रयास में संलग्न हो गए।लोकतांत्रिक राष्ट्रो ने अपने अपने विकास और उन्नति के लिए जो जो अपेक्षाये और आशार्ये बन गई और उन्हें प्राप्त करने के लिए अपनार्ये गए समयबद्ध कार्यक्रम उनकी योजनार्ये कहलाने लगी।

अपने पूर्व इतिवृत्य में वे सभी राष्ट्र दासता का अभिशाप भोग रहे थे। उन्हें स्वतंत्रता से वंचित करने के षड़यंत्र विदेशी शासक करते रहते थे। और अनेक कुचक्रो के अन्तर्गत उन्हें स्वतंत्रता के विभिन्न रूपों की अनुभूति तक नहीं होने पाती थी। न उन्हें राजनैतिक स्वतंत्रता थी, न आर्थिक स्वतंत्रता थी, न सामाजिक स्वतंत्रता थी, न धार्मिक स्वतंत्रता थी, न शैक्षिक स्वतंत्रता थी। विदेशियों का जीवन के उपरोक्त, सभी क्षेत्रों पर आधिपत्य था।

*शिक्षा के समाज शास्त्रीय आधार–by S.P Chaubey (page 47)

यदि कहीं छोटी मोटी स्वतंत्रता दी भी जाती थी तो उसे वे लोग सही अर्थो में प्रयोग भी नहीं कर पाते थे विभिन्न प्रतिबन्धो के कारण उसका मिलना न मिलना बराबर था।

अतः सभी नवोदित लोकतंत्रतात्मक राष्ट्रों ने अपनी दासत्व की धारणा में आमूल चूल परिवर्तन किया और सभी राष्ट्रो ने स्वतंत्रता को सर्वोपरि स्थान प्रदान किया। मताधिकार को माध्यम बना, अपने नागरिकों में राजनैतिक स्वतंत्रता प्रदान की। इस स्वतंत्रता के अर्न्तगत नागरिक आम निर्वाचित में अपना मत व्यक्त कर सकता है। स्वयं प्रत्याशी बन लोकविश्वास प्राप्त कर, विभिन्न राजनैतिक संस्था संसद, विधान सभा, पंचायतों और स्थानीय निकायों का सदस्य निर्वाचित हो सकता है और शासन संचालन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

राजनैतिक स्वतंत्रता–

इस प्रावधान द्वारा कोई नागरिक किसी भी राजनैतिक दल का सदस्य और पदाधिकारी भी बन सकता है। विभिन्न संगठनों का सदस्य बन कर लोक–कल्याण के कार्य पूरे कर सकता है। स्वतंत्रता के बल पर ही वह निर्वाचित सरकार और उनके प्रति निधियों पर नियंत्रण भी है रख सकता है। यदि कोई जनप्रतिनिधि मतदान की इच्छा के विपरीत आचरण करता है तो मतदाता की इच्छा के विपरीत आचरण करता है तो मतदाता उसे आगामी निर्वाचन में बदल सकता है। किन्हीं–किन्हीं राष्ट्रों में प्रतिनिधियों को लोक–इच्छा के विरूद्ध कार्य करने पर वापिस बुलाने का भी अधिकार Right to ree all भी मतदाताओं को प्रदान किया गया है।

लोक अपेक्षाओं के विपरीत आचरण करने वाले प्रतिनिधि या शासन को सचेत करने के लिये भी भाषण की स्वतंत्रता, विरोध प्रकट करने की स्वतन्त्रता और विधि सम्मत आन्दोलनों को चलाने की स्वंतन्त्रा भी, राजनैतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत गिना जाता है। भाषण, लेखन, पत्रकारिता और अन्य साधनों के माध्यम से अपने असंतोष को शासन तक भेजने की प्रत्येक मतदाता को स्वतन्त्रता है। वास्तव में स्वतंत्रता लोकतंत्र का प्राण, उसकी आत्मा है। और वह नागरिको का जन्मसिद्व अधिकार है। लोकमान्य वालगंगाधर जी तिलक ने तो स्वतंत्रता को अपना जन्मसिद्व अधिकार धोषित किया था।

आर्थिक स्वतंत्रता–

आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई मूल्य नही है। आर्थिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत नागरिकों को अपने जीवन यापन हेतु किसी भी व्यवसाय चुनने की स्वंतत्रता है। अपनी रूचि, क्षमता और साधनों के अनुसार वह कोई भी व्यवसाय स्थापित कर, अपना आर्थिक विकास कर सकता है।

धार्मिक स्वतंत्रता–

किसी भी नागरिक को अपने श्रद्वा और विश्वास के आधार पर

किसी भी धर्म को ग्रहण करने की स्वतंत्रता है। वलात् कोई धर्म या सम्प्रदाय उसके ऊपर थोपा नहीं जा सकता है। न ही उसके इच्छित धर्म से उसे वंचित ही किया जा सकता है। यह धर्मिक स्वतंत्रता वास्तव में धार्मिक उदारता के दृष्टिकोण से प्रदान की गई है। अपने धर्म में स्थिर और क्रियाशील व्यक्ति किसी दूसरे नागरिक के धार्मिक विश्वास, मान्यताओं और क्रिया कलापों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता, न ही किसी के धार्मिक विचारों को आधात ही पहुँचा सकता है।

वैयक्तिक स्वतंत्रता-

प्रत्येक नागरिक अपनी इच्छानुसार लोकहितकारी जीवन शैली को अपनाने के लिये स्वतंत्र है। वह किसी भी जाति, वर्ण, सम्प्रदाय या धर्म की लड़की से विधि सम्मत शादी ब्याह सम्पन्न कर सकता है। भोजन, वस्त्र धारण और सांस्कृतिक क्रिया कलापों में भी वह अपनी रूचि अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रयोग कर सकता है।

उपरोक्त विविध स्वतंत्रता का संक्षेप में वर्णन किया गया है। ये सभी स्वतंत्रतायें व्यक्ति को सम्पन्न और सुखी बनाने के लिए आवश्यक है। भारतीय मनीषी-गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने महाकाव्य रामचरित-मानस में भी

*"कर विचार देखहु मन मॉही, पराधीन सपनेहुँ सुख नाँही।"

कह स्वतंत्रता का महत्व उजागर किया है।

लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र में समानता की अवधारणा-

विदेशी हुकुमत में गुलाम राष्ट्रों को असमानता का भी अभिशाप भोगना पड़ा है। शासक वर्ग जनता में "फूट डालो और राज्य करो" की नीतिका अनुसरण करता था। सम्पूर्ण जनता को अपने वर्गो, श्रेणियों और सम्प्रदायों में विभक्त कर उनके हितों में विरोध और वैषम्य उत्पन्न करता था, कभी किसी वर्ग को प्रोत्साहित कर भेदभाव किये जाते, तो कभी किसी वर्ग को हतोत्साहित या प्रताड़ित कर उन्हें जीवन की मुख्य धारा से विलग कर देता था। हितों में अपने प्रकार के टकराव पैदा कर शासक वर्ग फूट डालते थे, और उन्हें कभी एकता का आभास नहीं होने देते थे । लोकतांत्रिक राष्ट्रों ने अपनी दुर्गति का यह कारण समझा। और इसे मिटाने के उद्देश्य से समानता को लोकतंत्र का मूलमंत्र माना है। समानता एक्य-भाव की जननी होती है। सम्पूर्ण राष्ट्र एक इकाई बन जावें इस हेतु सभी नागरिको को एक समान व्यवहार करना, लोकतंत्र की अनिवार्यता बन गई ।

राष्ट्र की विशालता और लधुता के आधार पर वहाँ के निवासियों में रंग-वर्ण, जाति, लिंग, धर्म के आधार विभिन्नतायें होती है। उन अनेक प्रकार की विभिन्नताओं के बीच राष्ट्रीय ऐक्य का एक ऐसा सूत्र विद्यमान रहता है। जो सम्पूर्ण विभिन्नताओं के होते हुये भी, पूरे राष्ट्र को एक ईकाइ में ढाल देता है। इसीलिए लोकतंत्र में समानता की अनिवार्यता है।

---

*राम चरित मानस रचियता तुलसीदास पृष्ठ संख्या 173

यों सभी व्यक्ति न आकार प्रकार में एक समान हो सकते है, न बौद्धिक क्षमतायें ही सब नागरिकों की एक सी होती है। अर्थिक स्तर भी सभी व्यक्तियों का एक नहीं होता। अतः इन मामलों में समानता कैसे स्थापित की जा सकती है? यहाँ समानता का तात्पर्य अवसर की समानता से है।

समानता के अन्तर्गत हम सभी नागरिकों को उनकें, वहुमुखी विकास के लिए समान अवसर प्रदान कर सकते है। राष्ट्र और विश्व की उपलब्धियों पर सभी नागरिकों का समान अधिकार है। अपने ढंग से, अपने वातावरण की रचना करने के लिए सभी के पास समान अवसर है। लोकतंत्र में किसी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति की अपेक्षा कम अवसर नहीं मिलना चाहिए। अपनी-अपनी योग्यता अनुसार सभी व्यक्ति अपना विकास कर सकते है।

सामाजिक समानता-

लोकतंत्र में वर्ण, रंग, जाति, समुदाय एवं लिंग के आधार पर कोई भेद भाव नहीं होता। छुआ-छूत, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन का लोकतंत्र में कोई स्थान नहीं होता। सभी व्यक्ति को उनके विकास के लिए समान अवसर,समान सुविधा, समान प्रक्रिया देने के लिए लोकतंत्र वचन बद्ध है।

व्यक्ति की योग्यता में विश्वास-

लोकतंत्र की निश्चित धारणा है कि प्रत्येक अपना भला बुरा सोच सकता है। उसमें बुद्धि है। वह अन्य क्षमताओ से युक्त है। वह सुलभ साधनों का उपयोग कर अपना विकास कर सकता है, वह शासन कर सकता है, प्रसाशन में भाग ले सकता है। उसके ऊपर किसी दूसरे का शासन, यह कह कर नहीं, लादा जा सकता, कि कुछ व्यक्ति ही शासक होने के साथ और दूसरों को उनके द्वारा शासित होना ही है।

युद्ध की अपेक्षा शांति में विश्वास-

लोकतंत्र का विश्वास है कि सभ्यता एवं संस्कृति, धर्म, कला, विज्ञान और विभिन्न ज्ञानों का प्रादुर्भाव शांति में ही होता है, शांति काल में ही उनका संवर्धन और संरक्षण सम्भव है। युद्ध काल में यह सब विकास की उपलब्धि नष्ट ही होती है। शासन भी आपात काल की घोषणा कर नागरिक अधिकारों को वहुतायत संस्था में समाप्त कर देता है और इस प्रकार स्वतंत्रता, समानता जैसे आदर्शो की भी हत्या हो जाती है। इस कारण लोकतंत्र सदैव शांति का ही उपासक है।

सहनशीलता-

लोकतंत्र ने सहनशीलता का सर्वोपरि स्थान है। विभिन्न जाति, रंग, वर्ण, धर्म, विश्वास के मानने वाले एक राष्ट्र में होते हैं। उनके आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा भी विभिन्न प्रकार की होती है। यदि एक वर्ग, दूसरे वर्ग

के लोगों को घृणा या द्वेष की दृष्टि से देखेगें, अपने को श्रेष्ठ और दूसरे को निष्कृष्ट मानेंगे, तो वर्ग संघर्ष पैदा हो जायेगा। और लोकतंत्र की एक भावना नष्ट हो जायेगी। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्ति के कार्य कलापों एवं जीवन पद्धति की आलोचना या निन्दा कर उनसे घृणा न करें, वरन् उदारता पूर्वक उनके विचार और आचरणों में उत्तमता का शोध कर, अंगीकृत भी करें। सहिष्णुता और सहनशीलता लोकतंत्र की पहली शर्त है। हमें अपनी आलोचना पर भी चिन्तन कर, उसमें सुधार करने की चेष्ठा करनी चाहिए सहिष्णुता से घृणा भी प्रेम में परिवर्तित हो जाती है।

शांति पूर्ण परिवर्तन में विश्वास–

लोकतंत्र में जनता का विश्वास होना चाहिए कि समाज स्थिर नहीं है वरन् परिवर्तनशील होना है। परिवर्तन सदैव सकारात्मक एंव शुभ दिशा में वांछित होता है।परिवर्तन रोकना एक प्रतिक्रिया कार्य है जो प्रगति शीलता को क्षति पहुँचाता है। यह आवश्यक है कि परिवर्तन दो प्रकार के होते है– (1) हिंसक कार्यवाही से रक्तपात करके तथा (2) शांति पूर्ण तरीके से समझा बुझा कर एंव हृदय परिर्वतन की प्रक्रिया द्वारा। लोकतंत्र हिंसा और रक्त पात को निन्दा के योग एवं हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया को अभीष्ट मानता है। कल्याण कारी परिवर्तन जो शांतिमय ढंग से किए जाते सदैव स्वागत योग्य होना चाहिए।

आर्थिक शोषण की समाप्ति–

लोकतंत्र शोषण के विरूद्ध संघर्षरत् रहता है। राष्ट्र की सम्पति पर हर नागरिक का अधिकार होता है। वे अपनी क्षमता के अनुसार कार्य कर के उस सम्पति के उपयोग का अधिकार रखते है।किसी व्यक्ति या किसी समुदाय विशेष का अधिकार राष्ट्रीय सम्पति पर या आर्थिक संसाधनो पर नहीं है। समान कार्य के लिए समान वेतन "Equal pay for equal work' लोकतंत्र का आदर्श है।

भ्रातृत्व की भावना युक्त सहकारिता एवं सहयोग–

भारत वर्ष की भ्रातृत्व भावना जग विख्यात है। अपनी इस उदार वृत्ति के कारण ही भारत ने अनेक आक्रमकों, लुटेरों और विदेशियों को और उनकी संस्कृति के अच्छे पक्षों को आत्मसात कर लिया है। शत्रु के लिए भी हम भिन्न भाव रखते है। उसके कल्याण की कामना करते है। तो फिर अपने ही देश वासियों के प्रति घृणा द्वेष का व्यवहार कहाँ तक उचित है? राष्ट्र के सभी नागरिकों के प्रति हमारा भाई–बहिन जैसा व्यवहार होना चाहिए, ताकि हम प्रकृतिजन्य, भाषाजन्य विषमताओ को पार कर सम्पूर्ण राष्ट्र में परिवारिकता का वातावरण अर्जित कर सकें। उनके सुख में सुखी और उनके दुख में दुखी हो। सुख–दुख में सहभागी वन सकें। सहयोग और सहकारिता के माध्यम से हमारे सम्बन्ध और दृढ़ हो सके। राष्ट्रीय हानि–लाभ की अनुभूति हमें अपनी निजी हानि–लाभ के समान हो। निर्धनो को धनी व्यक्ति, अशिक्षितों को शिक्षित व्यक्ति, निर्वल लोगो को वलशाली व्यक्ति सहायता कर सहकारिता को साकार कर सकते है।

स्वतंत्र भारत का लोकतांत्रिक स्वरूप का उदय और उसके संकल्प–

15 अगस्त 1947 को भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो कर स्वतंत्र हुआ। किन्तु, आंशिक रूप में वह ब्रिटिश शासन का मुखापेक्षी फिर भी बना रहा। प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण और अपने राष्ट्रीय संविधान की प्रप्ति उसे 26 जनवरी 1950 को हुई।

संविधान निर्मात्री समिति ने (जिसमें झाँसी के प्रसिद्ध विधिवेता श्री र० वि० धुलेकर भी एक सम्मानित सदस्य थे) संविधान की प्रस्तावना में अपने राष्ट्रीय संकल्पों, महत्वाकांक्षाओं और कार्य योजनाओं को उद्घोषित किया।

"हम भारतीय लोग भारत में सार्वभौमसत्ता सम्पन्न गणंतत्र की स्थापना के लिए वचन वद्ध हैं। हम इस देश के नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की व्यवस्था करेंगें। विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास एवं आराधना की स्वतंत्रता की व्यवस्था करेंगें। स्तर और अवसर की समानता का प्रबन्ध करेंगें तथा राष्ट्र की एकता और व्यक्ति की गरिमा की रक्षा करतें हुए उन सब में भ्रातृत्च की भावना का विकास करेंगे।"

उक्त प्रस्तावना का अंग्रेजी का मूल पाठ निम्नाकित है:

**"We the people of India having solenmy resolved to Constitute India in to a sovereign democratic republic and to secure all its citizens:
Justice, social, economic and political liberty of througt, expression, belief, faith, and worship.
Equality of status and of opportunity and to promote among them all.
Fraternity assuring the dignity of the indivisul and the unity of the nation in our constituent assembling.
This twenty sixth day of november 1949 do here by adopt enact, and give to our selves this constitution."**

उक्त संविधान की स्वीकृति से भारतीय राष्ट्र लोकतांत्रिक स्वरुप के निम्नलिखित लक्ष्य स्पष्ट हो गए।

(1) नागरिकों की स्वतंत्रता
(2) समानता की गारण्टी
(3) समुचित न्याय दिलाने का आश्वासन
(4) व्यक्ति की गरिमा की सुरक्षा और
(5) राष्ट्रीय एकता का संवर्धन।

---

*(भारतीय संविधान की प्रस्तावना 1950)
** Pre-anble to the constitution of India 1950

उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संविधान में मूल अधिकारों का विधान किया गया हैं। जिनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता है। संविधान ने राज्य के लिए कुछ नीति-निर्देशक तत्वों का समावेश किया हैं। जो राष्ट्रीय हितों के विकास में सहायक हों।

भारतीय लोकतंत्र की प्रगति में बाधायें-

भारतीय लोकतंत्र अपने धोषित उद्देश्यों को शनैः-शनैः प्राप्त कर रहा है किन्तु उसके सामने पग-पग पर निम्नलिखित बाधायें उपस्थित हो रही हैं। जिनसे सतर्क होना हम सबका कर्तव्य है।

(1) जमींदारी की भावना की बाधा-

(यद्यपि जमींदारी प्रथा का अन्त हो गया है, राजे-रजवाडें भी अपना प्रभुत्व खो चुके है। किन्तु समाज में अभी सांसदों और विधायकों की जमींदारी में जैसी प्रभुत्व की भावना शेष है। शिक्षा के क्षेत्र में प्रबन्धकों की जमींदारी पनप रही है उसका भी उन्मूलन आवश्यक है।)

(2) क्षेत्रीयता की बाधा-

यह बाधा भी कम भयावह नहीं है। क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए संकट खडा कर सकती है। कभी कभी क्षेत्रीयता, गृहयुद्ध की सम्भावना खड़ी कर देती है तथा व्यक्ति को राष्ट्रीय फलक पर सोचने-विचार ने में विध्न उत्पन्न करती है। क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति भारतीयों की उदार-वृत्ति के प्रतिकूल भी है। उदारता भारतवासियों की एक अपनी विशेषता है।

(3) जातीयता और सम्प्रदायिक भावना-

ये दोनो भावनायें हमारे राष्ट्रीय चरित्र को लांछित कर, हमें संकीर्ण-विचारों तक सीमित रखती है। विश्वबन्धुत्व जिस राष्ट्र का चरित्र रहा हो वहाँ ऐसी संकीर्ण भावनायें क्षुद्र स्वार्थी और निन्द्य कलहों का कारण बनती है।

(4) निर्धनता एवं सम्पत्ति का असमान वितरण-

यह समस्या हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय प्रगति में सबसे बडी बाधा है। हमारी अनेक योजनाये धनाभाव के कारण पूरी नही हो पाती और हमारे संकल्प अपूर्ण रह जाते है। विशेष रूप से शैक्षिक - उत्थान के लिए हम राष्ट्रीय आय का 6% भी प्राप्त करने में सफल नहीं हो पा रहे हैं, जो एक गहन चिन्ता का विषय है। समाज में सम्पदा का समान वितरण होना भी राष्ट्रीय बाधा है।

(5) निरक्षरता–

निरक्षरता भारतीय राष्ट्र का एक महान अभिशाप है। हमारे राष्ट्र में साक्षरता का प्रतिशत नाम 27% है शेष 73% भारतीय निरक्षर है। किसी भी लोकतंत्र की सफलता वहाँ के पढ़े लिखे नागरिकों की संख्या पर निर्भर करती है। शिक्षित व्यक्ति की सोच राष्ट्र की सम्पत्ति होती है। भारत इस में साक्षरता अभियान के माध्यम द्वारा प्रयासरत है।

(6) भाषावाद–

क्षेत्रीयता के समान ही भाषावाद का वितण्डा भी हमारे सम्मुख है। उत्तरी भारत में हिन्दी सम्पर्क भाषा के रूप में व्यवहृत हो रही है जबकि दक्षिण भारत में अंग्रेजी का प्रचलन है। सभी अपनी बातों पर अडे. है। इस समस्या पर प्रोफेसर एस. एन. मुखर्जी का मत है :–

" A number of languages and dileets are spoken in India .Of these Fifteen languages are specified in the eight schedule of our constitution. A subcontinent like India is badly in need of a link language, not only as a means of communicaion but also for foster a comman culture, goals and ideals".*

भाषा वाद के उक्त विवाद को उत्तरी भारत में श्री मुलायमसिंह यादव एवं श्री सुन्दरलाल पटवा (जो उ0प्र0 तथा म0 प्र0 के मुख्यमंत्री थे) ने राज्यों की विधान सभा में प्रस्ताव पारित कर देश से अंग्रेजी हटाओं अभियान चलायें। तों दूसरी तरफ श्री एम. करूणानिधि ने आन्ध्र, कर्नाटक और केरल तथा तमिलनाडू के निवासियों से हिन्दी का प्रबल विरोध करने की अपील करते हुए उन्हें संगणित कर लिया और उन लोगो द्रविडस्तान बनाने की धमकी भी दे डाली । गुजरात, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल भी अग्रेंजी के पक्षधर हो गए, इस प्रकार भाषावाद, राष्ट्रीय ऐक्य के लिए एक गंभीर खतरा साबित हो रहा है।**

भारतीय लोकतंत्र की परिवर्तित शैक्षिक अवधारणायें, आकांक्षाये और उनकी उपलब्धि के प्रगति – सोपान"–

भारतीय लोकतंत्र का स्वतंत्र समाज विश्व के अनेक समाजों से सर्वथा भिन्न प्रकार का है, उसकी तुलना किसी अन्य समाज से नही की जा सकती। स्वतंत्र समाज का अस्तित्व ऐसे किसी राष्ट्र में नहीं हो सकता है जहाँ साम्राज्यवादी (Inperialism), फासिस्टवादी (Facist) या साम्यवादी (Communist) प्रशासन हो।

*Education in India today and tomorrow. page no-153

**Statement on dated-29Aug.1990

उसकी तुलना किसी ऐसे समाज से भी नहीं की जा सकती। जहाँ अधिनायकवाद (Dictatorship) हो, या जहाँ जिसकी लाठी, उसकी भैंस वाला might is right का बोल वाला हो।

किसी समाजवादी राष्ट्र की तुलना भारत से करना व्यर्थ है क्योंकि समाजवादी प्रशासन व्यवस्था में वैयक्तिक स्वतंत्रता का व्यापक स्तर पर हनन होता है।

भारत एक ऐसा स्वतंत्र समाज है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सम्मान सामाजिक अनुग्रह के आलोक में किया जाता है। यही एक मात्र ऐसा समाज है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता को, उसकी विचारधाराओं को उसके कल्याण के लिए नियंत्रित, संस्कारित और रूपायित करता है। व्यष्टि कल्याण और समष्टि हित का अनोखा सामन्जस्य केवल भारत के स्वतंत्र समाज में ही दृष्टव्य है।

इसीकारण भारत की आजादी के साथ यहाँ शिक्षा व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन के भाव दिखाई दिए, जो गुलाम भारत की साम्राज्यवादी विचार धारा के सर्वथा प्रतिकूल थे। गुलाम भारत में भी शिक्षा में अनेक परिवर्तन तो हुए किन्तु वे दासता की मनोवृति पदक थे।

उन परिवर्तनों में भारत की जाग्रत आत्मा के दर्शन नहीं होते थे। वरन् वे सभी परिवर्तन साम्राज्यवाद के पोषक, उनके हित चिन्तक और साम्राज्यवाद की जडों को पुष्ट करने वाली, उनकी आवश्यकताओ के पूरक थे। गुलाम भारत में सबसे पहले शिक्षा सुधार के नाम पर सन् 1835 में लार्डमैकाले के कार्य काल में सरकारी व्यय पर शिक्षण संस्थाये स्थापित करने का प्रयत्न हुआ।

मैकाले भारत में शिक्षा, विदेशी भाषा के माध्यम से देकर ,पाश्चात्य-संस्कृति की श्रेष्ठता निरूपित कर भारतीय को अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु लिपिक या नीचे दर्जे के ऐसे अधिकारी बनाना चाहता था जो उसके शासन-प्रशासन, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन के तौर तरीको के अंध-भक्त हो, और उसके साम्राज्य के गुण गायक हो।

डॉ0 सरयूप्रसाद चौबे जी ने उपरोक्त तथा कथित शिक्षा-सुधारों की वास्तविकता का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है:-

*"भारत के अंग्रेज प्रशासकों की भारतीय शिक्षा में कोई रूचि नहीं थी। साथ ही साथ वे उसके उद्देश्यों को सीमित रखनें के पक्षपाती थे। लार्ड मैकाले का इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था से यह अभिप्राय था कि उसके द्वारा ऐसे काले अंग्रेज तैयार किये जावें, जो जन्म से भारतीय होते हुए भी रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा, आचार-विचार आदि में अंग्रेज हो और ब्रिटिश साम्राज्य की लिपिकीय आवश्यकताओं **clerical-neceties** की पूर्ति करें।"

* शिक्षा के समाजशास्त्रीय आधार पृ. सं.529 लेखक-सरयू प्रसाद चौबे

पराधीन भारत में विदेशी शासकों द्वारा शिक्षा सुधार का नाटक –

गुलाम भारत में शिक्षा–सुधार के नाम पर दूसरा प्रयत्न उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य 1854 Mr. wood के द्वारा किया गया। उसके प्रयत्न मैकाले की तुलना में तो कुछ उदार थे परन्तु वे भी यूरोपीय संस्कृति, सभ्यता और मान्यताओं पर आधारित थे। हालाँकि वर्तमान शिक्षा पद्धति इसी प्रकार की विभिन्न संस्तुतियों पर आधारित है।

Mr. Wood की संस्तुतियों को Wood's Despatch के नाम से जाना जाता है। यद्यपि इस संस्तुति का लेखक James Mill था।

मैकाले और वुड के सम्बन्ध में प्रो. एस. एन. मुखर्जी का सोच है:–

***" While Maeaulay was an imperialist utilitarian, James Mill who is supposed to have drafted wood's despatch was a rationalist utilitarian, the system aimed at preparing a class of people who could understand the english language and sympathise with the culture of their rulers."**

गुलाम भारत में शिक्षा सुधार के जो प्रयत्न विभिन्न संस्तुतियों, आख्याओं, और कानूनों के द्वारा विदेशी शासकों द्वारा किए गये उनका संक्षिप्त संकलन निम्नांकित है।

(1) मैकाले के शिक्षा–सुधार–

सन्1835 जिसके द्वारा सरकारी व्यय पर पाश्चात्य संस्कृति के अनुकरण पर काले अंग्रेज बनाने और साम्राज्य वाद की लिपिकीय आवश्कताओं की पूर्ति को उद्देश्य बनाया गया था।

(2) वुडस् डिस्पेच–

सन् 1854 जिसके अनुसार सरकार को जन–शिक्षा पर और अधिक व्यय करने का सुझाव सरकार हो दिया गया। वुडस ने अपने अलेख में लिखा है–

****"The great mass of people are utterly in capable of oltaening any education worthy of the name of their own efforts",**

---

*Education in India : Today and Tomorrow Page no. 4

**Woods despatch - para 41

(3) हण्टर कमीशन–

ब्रिटिश शासन इस कमीशन को निर्देश दिया था कि वह प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में जाँच कर वरीयता आख्या प्रस्तुत करें। इस आयोग ने सुझाव दिया कि प्राथमिक शिक्षा और माध्यमिक स्तर की शिक्षा को दो अलग अलग स्तरों में विभक्त कर देनी चाहिए । इस आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि माध्यमिक स्तर पर साहित्यिक विषयों एवं कियात्मक विज्ञान तथा व्यावसायिक विषयों के दो पाठ्यक्रम भी पृथक-पृथक चलाये जायें।

(4) भारत सरकार का शिक्षा विषयक सन् 1904 का प्रस्ताव–

इस प्रस्ताव के विवरण को शिक्षा सुधार की दशा में उपयोगी प्रस्ताव कहा जा सकता था, क्योंकि इसमें प्रावधिक शिक्षा पर जोर दिया गया था। जो भारतीय आवश्यकताओं के अनुरुप था। प्रस्ताव की शब्दावली निम्नांकित है।

*" A simple and practical type industrial training of local importance and of higher standard, commercial instruction with practical traning and adopted to Indian needs, provision of more suitable type of agriculture courses."

(5) इण्डियन यूनीवर्सिटी एक्ट–

इण्डियन यूनीवर्सिटी एक्ट सन्1904 द्वारा सरकार ने भारतीय विश्वविधालयों के कार्य क्षेत्र में वृद्धि कर उन्हें अपने प्रवक्ताओ, प्राध्यापकों की नियुक्ति का अधिकार प्रदान कर दिया।

(6) सैडलर–कमीशन–

सैडलर–कमीशन (1917–1919) ने माध्यमिक विधालय की स्थापना यूनीवर्सिटी एवं डिग्री कालेजों से पृथक करने पर बल दिया और इण्टरमीडिएट कॉलेजों में, कला, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, शिक्षा–शास्त्र, कृषि, व्यापार और उद्योग सम्बन्धी पाठ्यक्रम चलाने का सुझाव दिया।

(7) हर्टगो–रिपोर्ट–

हर्टगो–रिपोर्ट (1927) इस आलेख ने सबसे पहले भारतीय मनीषा का ध्यान प्राथमिक शिक्षा के wastage की ओर आकर्षित किया। रिपोर्ट में रेखांकित किया गया कि प्राथमिक शिक्षा निष्प्रभावी है, यदि वह अपना साक्षरता का लक्ष्य पूरा न करे, तो आज का बालक चार वर्ष की प्राथमिकता शिक्षा पूरी करने वाद भी साक्षर नहीं होता।

---

*Indian Education today and tomorrow page no. 164

हर्टगो–रिपोर्ट में लडकियों की शिक्षा पर भी बल दिया गया और कहा गया कि प्राथमिक स्तर पर स्कूल जाने वाले बच्चों के बीच लडकों और लडकियों की संख्या के अनुपात में विशाल विषमता विद्यमान है। विशेष रूप से देहाती क्षेत्र मे तो लडकियों की शिक्षा नगण्य ही है। लडकियों को प्राथमिक स्तर की शिक्षा के साथ ही साथ माध्यमिक स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध भी किया जाना चाहिये। जबकि ऐसे विद्यालय बहुत कम है, जहाँ महिला शिक्षकों द्वारा लडकियों को माध्यमिक स्तर की शिक्षा दी जा सकें।

(८) वुड–एवट–आलेख–

वुड–एवट–आलेख (1936–1937) वुड–एवट ने अपने आलेख में निम्नलिखित पांच विशिष्टतायें वर्णिति की।

(A) ग्रामीण मिडिल स्कूलों का पाठ्यक्रम छात्रों के परिवेश के अनुसार निर्धारित किया जावे।

(B) जूनियर वोकेशनल स्कूलों की स्थापना की जावे। कक्षा 9 से 12 तक के छात्रों लिए त्रिवर्षीय कोर्स निर्धारित हो।

(C) सीनियर वोकेशनल कोर्स विद्यालयों में द्विवर्षीय हो।

(D) नौकर पेशा युवकों के लिए Part time school खोले जावें।

(E) ऐसे सभी विद्यालयों का गठन कृषि आधारित शिक्षा के लिए किया जावे।

(९) सारजेण्ट रिपोर्ट–

शिक्षा–नियोजन पर यह भारतवर्ष की प्रथम रिपोर्ट है, जिसमें शिक्षा को स्तरीय बनाने का लक्ष्य प्रतिपादित किया गया। इस रिपोर्ट के माध्यम से भारत वर्ष में भी चालीस वर्षो की अवधि में ब्रिटेन के सम–सामयिक शिक्षा स्तर को प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया था।

पराधीन भारत में भारतीय प्रयास–

उपरोक्त 9 शिक्षा सुधार विषयक वे प्रयत्न है जो अंग्रेजो द्वारा भारतीय शिक्षा के उत्थान हेतु प्रस्तुत किए गए थे। अंग्रेजो के शिक्षा सुधार प्रयत्नों से हट कर हमारे भारतीय मनीषियों और नेताओ ने शिक्षा में परिवर्तन करने हेतु अनेक प्रयास गुलामी के समय से ही प्रारम्भ कर दिए थे। अब हम पराधीन भारत में भारतीय नेताओ द्वारा किये गये शिक्षा सुधार विषयक कतिपय प्रयत्नों और उनकी सफलता–असफलता पर विचार करेंगें।

पराधीन भारत में भारतीय मनीषियों, नेताओ एवं दार्शनिकों के

अनवरत प्रयत्न शिक्षा सुधार के लिए चलते रहे जिनका परिणाम स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा परिवर्तित रूप में प्रकट हुये। भारतीय राजनीति के मंच पर सन् 1885 में इण्डियन नेशनल कॉंग्रेस का जन्म हुआ। कॉंग्रेस का आविर्भाव अपने आप में सामाजिक सुधार, शिक्षा व्यवस्था, राजनैतिक उत्कर्ष और राष्ट्रीय भावना के जागरण मंत्र लिए था।

अतः शिक्षा सुधार हेतु भारतीय प्रयत्नों का कमवार विवरण हम सन् 1885 से प्रारम्भ करना उचित समझते है। यह समय अठारहवीं सदी का उत्तरार्ध काल है।

जिसमें अनेक समाज सुधरको का कार्यवृत सम्पन्न हुआ। मानवेन्द्र नाथ राय अपने 'नव्य मानववाद' राममोहन राय अपने "ब्रह्म समाज", एनीवेसेण्ट प्रार्थना समाज, विश्व कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर 'विश्व वोध दर्शन', स्वामी विवेकानान्द अपने 'नवीन वेदान्त दर्शन', महात्मा गॉंधी अपने 'सर्वोदय दर्शन' तथा महात्मा अरविन्द घोष अपने 'सर्वांग दर्शन' के आधार पर समाज सुधार और शिक्षोन्नयन के कार्य में दत्त चित हो क्रियाशील थे।

उपरोक्त सभी मनीषियों का योग भारतीय शिक्षा के लिए चिर स्मरणीय है। डॉ0 एनी वेसेण्ट ने शिक्षा के लिए, संस्कृति की भारतीय गति को लक्ष्य करके कहा है कि :-

*** "It spread down wards. It was not built up from below. Indian civilization was product of country; not of towns: of forest; not of city.**

वास्तव में डॉ0 एनी वेसेण्ट ने हमारी वैदिक शिक्षा को दृष्टिगत करते हुए प्रशंसा की है। जंगलो में हमारी संस्कृति विकसित हुई है और वहीं हमारी इस दार्शनिक शिक्षा का शुभारम्भ हुआ, जिसके बलबूते पर भारत विश्व गुरू की गरिमा प्राप्त कर सका। एनी-वेसेण्ट के मतानुसार दार्शनिकता पूर्ण शिक्षा से ही, भारत वर्ष में पुनरोत्थान की गंगा बहाई जा सकती है।

विश्व कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर भी प्रकृति की गोद में छात्र के विकास की हामी है; प्रकृति की गोद मे अधिक सभ्य और सुसंस्कृतिक बनता है। और संस्कृति की परम्परा का सच्चा संवाहक बन कर, अपनी शिक्षाको सफल बनाता है उनका विचार है :-

**** "The curent of civilization that flowed from its forests imundateed the whole of India."**

---

* Indian Ideals by Annei Basant,Madras theosophical publishing house 1922, page no. 26-27

** विश्व भारती त्रिमासिक अप्रैल 1924 (पृष्ठ सं. 64)

पराधीन भारत में भारतीय दर्शनिकों की शिक्षा विषय धारणायें एवं स्थापना में भारतीय शिक्षा को सबसे अधिक स्वामी विवेकानन्द के विचारों ने प्रभावित किया। उन्होने शिक्षा के सभी अंगो उपांगो पर विचार कर आदर्श शिक्षा के स्वरूप का निरूपर्ण किया । शिक्षा दर्शन पाठ्य क्रम, शिक्षण विधि, शिक्षक स्वरूप, छात्र संकल्पना आदि सभी पक्षों पर गहन अध्ययन मनन कर उन्होंने भारतीय शिक्षा को जो अमृत विन्दु प्रदान किए है वे न केवल वर्तमान भारत, वरन् भविष्यतम् भारत के लिए मार्ग दर्शक बने रहेंगे। उनका कथन है–

* "जो शिक्षा प्रणाली जन–साधारण को जीवन–संधर्ष से जूझनें की क्षमता प्रदान करने में सहायक नहीं है, जो मनुष्य के नैतिक बल का, उसकी सेवावृत्ति का, उसमें सिहं के समान साहस का विकास नहीं करती वह भी क्या शिक्षा नाम के योग्य हैं ?"

** "आज की यह उच्च शिक्षा रहे या बन्द हो जावे उससे क्या बनता बिगडता है ? यह अधिक अच्छा होगा, यदि लोगों को थोडी तकनीकी शिक्षा मिल सकें, जिससे वे नौकरी की खोज में इधर–उधर भटकने के बदले किसी काम में लग सकें और जीवकोपार्जन कर सकें।"

भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों को निरूपित करते हुये उन्होने निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किए:–

(1) शारीरिक पूर्णता।
(2) जीवन संधर्ष के लिये तैयारी ।
(3) राष्ट्रीयता और अर्न्तराष्ट्रीयता का विकास।
(4) चरित्र विकास।

स्वामी जी को आधुनिक भारतीय परिस्थितियों का पूर्व आभास हो गया था। इसीलिये जो समन्वयकारी दृष्टिकोण उन्होंने प्रस्तुत किया, उसमें से बहुत कुछ आज की परिस्थितियों ग्रहण करने योग्य है। उन्होंने वेदान्त और विज्ञान का जो समन्वय किया वह आज की सबसे बडी माँग है।

विश्वकवि डा. रवीन्द्रनाथ टैगोर और उनका विश्व बोध–

विश्वकवि रवीन्द्र नाथ टैगोर बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे। वे कवि, दार्शनिक, कलाकार और शिक्षक भी थे। उपनिषदों ने वर्णित विश्व–बोध की भावना को

---

* शिक्षा की दर्शनिक पृष्ठ भूमि–डॉ0 एल. के. ओड. (पृष्ठ सं. 220–221)

** आधुनिक भारतीय चिन्तन तथा शिक्षा डॉ0 एल. के. ओड. (पृष्ठ सं. 221)

उन्होने आत्मसात् किया था। उन्हें प्रकृति में अनन्त सत्ता के दर्शन होते थे। उनका हृदय मानव करूणा से आप्लावित था। उनका मानवतावादी विश्व-बोध-दर्शन उनके समस्त शैक्षिक चिन्तन में परिलक्षित होता है।

उनका विश्वास था-

* ''कि प्रत्येक छात्र को प्रकृति की ओर से अनन्त मानसिक शाक्ति उपलब्धि हुई है, जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में इस शक्ति का अल्पांश मात्र ही प्रयुक्त होता है और उसके बाद भी विपुलशक्ति अवशिष्ट रहती है। जिसका उपयोग सृजन के लिए किया जाना चाहिये । शिक्षा का प्रमुख कार्य शिक्षार्थी की इस सृजनात्मक शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करना है, जिससे जीवन उदात्त, उच्च और आनन्दमय बन सके । वैयक्तिक और सामाजिक हित के द्वन्द्व से व्यक्ति को मुक्त करना ही शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है।''

प्रकृति से दूर रखकर बालक को शिक्षा देने के वे विरोधी है। वे कहते है:-

**''हम बालक को भूगोल पढाने के फेर में उसकी पृथ्वी उससे छीन लेते हैं। व्याकरण पढानें के लिए उसकी सहज भाषा छीन लेते हैं। उसकी भूख काव्य के लिए है, किन्तु उसके सम्मुख मात्र तथ्यों और तिथियों से भरे पूरे अभिलेख प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। बालक जन्म तो लेते है जगत में, पर हम उन्हें बेजान ग्रामोफोन के जगत में ढकेल देते है।''

प्रकृति की डोर में मानव का सच्चा विकास ही टैगोर की दृष्टि में विकास है। उनका मत है :-

***''चारों और फैली हुई हरियाली हमारी महान शिक्षिका है। जो नंगे पैरों से पृथ्वी का स्पर्श कर देते है, वे ही उसकी कठोरता, मृदुता, ऊँचाई-नीचाई के रहस्यों से अवगत हो सकते हैं। प्रकृति हमारे जीवन को सौन्दर्य, आनन्द, समरसता और रंगीन भावनाओं के साँचें में दालती है। साथ ही हमें उपनी अन्तरात्मा मे प्रति मनन की प्रेरणा देती है।''

इस प्रकार हम देखते है कि रवि बाबू जी शिक्षा जगत के लिये सबसे बडी देन, उनका समन्वयवाद है । भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन के बीच समन्वय आदि विचार सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित कर रहे है। उनकी विश्व-भारती का स्वरूप और उसके आदर्श-मानववाद, विश्व-एकता, सृजनात्मकता, कलात्मक

---

* आधुनिक भारतीय चिन्तन तथा शिक्षा पृष्ठ संख्या 229

** पर्सनेलिटी पृ. सं. 116

*** विश्व-भारती त्रिमासिक, अक्टूबर सन् 1938

अभिव्यक्ति,स्वतंत्रता, सौन्दर्यबोध प्राकृतिक जीवन–भारत की अन्य शिक्षण संस्थाओं के लिए प्रकाश– स्तम्भ बन गए है।

अर्न्तराष्ट्रीय सद्भाव का सुविचार टैगोरजी ने द्वितीय विश्वयुद्व के पूर्व ही संसार को दे दिया था जबकि संसार में युद्ध के बाद विश्व सद्भावना का भाव जागृत हुआ।

"महात्मागाँधी का सर्वोदयी दर्शन और भारतीय शिक्षा"–

अपने समय के शीर्ष भारतीय नेता महात्मा गाँधी ने शिक्षा को हृदय–परिवर्तन–वैयक्तिक और सामाजिक दोनों रूपों में–का माध्यम माना है। वे सत्य और अहिंसा के पुजारी थें, और इन्हीं दो अन्यों की सहायता से उन्होंने ब्रिटिश शासन के पैर भारत वर्ष से उखाड दिये थे। वे सत्य को परमसाध्य और ईश्वर का पर्याय मानते थे और अहिंसा को उसे प्राप्त करने का साधन मानते थे।

उनका सर्वोदय–दर्शन वेदान्त की नवीव व्याख्या के रूप में उपस्थित हुआ। समाज की प्रत्येंक इकाई, प्रत्येक व्यक्ति के उदय द्वारा वे सम्पूर्ण समाज के उदय को सर्वोदय मानते थे। न्यष्टि के विकास का समाहार समष्टि के विकास होना उन्हें मान्य था। अपने चिर–साध्य–– सत्य सम्बन्ध में उनका कथन हैः–

*"मेरे लिए सत्य सर्वोच्च सिद्धान्त है जिसमें अनेक सिद्धान्त अर्न्तभूत हो जाते है। यह सत्यवाणी की सत्यता ही नहीं, बल्कि विचारों की सत्यता है। और यह परम सत्य सनातन सिद्धान्त अर्थात् ईश्वर है"

अहिंसा के सम्बन्ध में गाँधी का विचार है कि यह एक व्यक्तिवादी नैतिक आधार है और उसे सामाजिक रूप प्रदान किया जा सकता है। अहिंसा केवल व्यक्ति का धर्म ही नहीं है, अपितु इसकी व्याप्ति राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में होनी चाहिए। सत्य तथा अहिंसा के आधार पर जिन उपपत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, उन्हें संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) आयुधों की अपेक्षा प्यार की शक्ति अधिक है। शिक्षा के क्षेत्र में दण्ड की अपेक्षा प्यार अधिक प्रभावशाली है।

(2) मानव हृदय में देवत्व का निवास होता है। मानव अन्तःकरण की पवित्र देवी–भावना को जमकर समाज से शोषण समाप्त किया जा सकता है। शोषण मिटाने के लिए दण्ड संघर्ष तथा हिंसा की आवश्यकता नहीं है, मनुष्य का हृदय परिवर्तन किया जा सकता है।

---

* सत्य के प्रयोग लेखक महात्मा गाँधी पृ. सं. 408

(3) पारस्परिक सद्भाव और सहमति द्वारा अनेक समस्याओं का समाधान सम्भव है।

(4) नकारात्मक विरोध की अपेक्षा विध्यात्मक या रचनात्मक कार्य की दबाब युक्ति अधिक प्रभावशाली है।

(5) इच्छाओं की निरन्तरवृद्धि व्यक्ति को असंतोष और समाज को शोषण की सुविधा प्रदान करता है।

(6) साधन और साध्य के बीच समरसता होनी चाहिए। अपवित्र साधन से पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति संभव नहीं।

गाँधी जी ने शिक्षा की परिभाषा करते हुये लिखा हैः-

*"शिक्षा से मेरा आशय है कि बालक तथा मनुष्य में निहित शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक श्रेष्ठशक्तियों का सर्वांगीण विकास है।"

गाँधी ने शिक्षा के दो-ध्येय निरूपित किए है-

(1)- वैयक्तिक ध्येय।
(2)- सामाजिक ध्येय।

वैयक्तिक ध्येय के अन्तगर्त निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन कर सकते है।

(1) छात्र का चरित्र निमार्ण और सर्वागीण विकास समाहित।

सामाजिक ध्येय के अन्तगंर्त निम्नलिखित बिन्दुओं का अध्ययन कर सकते हैं।

1- उत्पादक नागरिकों का निमार्ण ।
2- सर्वोदयी समाज के लिये सेवा-भाव वाले युवकों को तैयार करना है।

गाँधी जी शिक्षा की सार्थकता जीवन की पवित्रता मानते थे। उन्होंने शिक्षा की सार्थकता के सन्दर्भ में कहा हैः-

"तुम्हारी शिक्षा सर्वथा बेकार है, यदि उसका निमार्ण सत्य एवं पवित्रता की नींव पर नहीं हुआ है। यदि तुम अपनी पवित्रता के बारे में सतर्क नही हुए तो सब व्यर्थ है, चाहे भले ही तुम महान विद्वान क्यों न हो?"

गाँधी छात्र और अध्यापक के सम्बन्धों को अभौतिक सम्बन्ध मानते

---

* टू द स्टूडेण्टस्-महात्मागाँधी पृष्ठ संख्या 230

है। उनकी राय में अध्यापकों से सजीव सम्पर्क में रहकर बालक पुस्तकों की अपेक्षा अनके जीवन से अधिक सीख सकता है। उनका मत है कि ज्ञान तो किसी से प्राप्त किया जा सकता है किन्तु ज्ञान देने वाला प्रत्येक व्यक्ति गुरू नहीं हो सकता । गुरू होने के लिए आत्मिक सम्वन्ध स्थापित करना पडता है। ज्ञानार्जन की प्रथम शर्त है विश्वास। जिसके बिना यह सम्बन्ध स्थापित हो ही नहीं सकता। अध्यापक उनके लिए वेतन भोगी मजदूर या नौकर नहीं है।

अध्यापन कार्य के लिए समर्पण आवश्यक है। जब अध्यापक वेतन से जुड़ जाता है तो वह कम से कम अध्यापन और अधिक से अधिक वेतन पाने की जुगाड़े सोचता रहता है। और छात्र हित, उसका सर्वागीण विकास उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है।

सर्वोदय के अनुसार जीवन के पॉच कार्यकलाप जो निम्नवत है और जो पाठ्यक्रम के अंग है –

(1) स्वस्थ तथा स्वच्छ जीवन के कार्य कलाप–

इसके अर्न्तगत शारीरिक स्वास्थ, स्वच्छता और सामुदायिक स्वास्थ्य आ जाता है। स्वास्थ के लिये शारीरिक व्यायाम, खेलकूद, शरीर विज्ञान, स्वास्थ विज्ञान, भोजन विज्ञान आदि का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है। शारीरिक स्वच्छता, परिवेश की स्वच्छता के साथ ही स्वास्थ आदतों, मनोवृत्तियों तथा दक्षताओं का विकास करना अभीष्ट है।

(2) स्वालम्वन सम्बन्धी कार्य कलाप–

परावलंवन या दूसरे पर निर्भरता अशिक्षा की निशानी है। अतः पाठयक्रम में भोजन बनाना, सिलाई कर सकना, विनिमय कर सकना, दैनिक जीवन का हिसाब कर सकना, सब्जियॉ पैदा कर सकना आदि कुशलतायें शामिल है। मातृ भाषा आरम्भिक गणित तथा सामान्य विज्ञान इसके अन्तर्गत आते है।

(3) बुनियादी दस्तकारी (मूल उद्योंग)–

मूल उद्योग को पाठ्य क्रम का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना गया है। बुनियादी शिक्षा का यही आधार है। गॉधीजी के विचार में, उद्योग जीवन की सबसे महत्व पूर्ण क्रिया है। इसी पर वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की सभी क्रियायें आश्रित है। उद्योग श्रम साध्य क्रिया है। अतः श्रम की गरिमा को स्थापित करने का यही माध्यम है। समाज में शोषक और शोषित के वर्ग भेद उद्योग द्वारा समाप्त किए जा सकते है। उद्योग छात्र को एक ओर प्रकृति की ओर ले जाता है तो दूसरी ओर सामाजिकता की ओर भी रह जाता है। और उद्योग की सामग्री प्रकृित से प्राप्त होती है और उत्पादित सामाग्री का विनमय समाज में होता है।

उद्योग के सम्बन्ध में गाँधी जी के विचार थे–

(क) उपयुक्त उद्योग वह है जिसकी शैक्षिक सम्भावनायें अनन्त हों, और जो कम से कम आठ वर्ष तक नियमित सीखा जाये।

(ख) उद्योग के माध्यम से छात्र का सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित किया जा सके। मूल उद्योग में गणित भाषा, विज्ञान और सामाजशास्त्र आदि सभी बौद्धिक विषय, भावात्मक विकास एवं चारित्रिक विकास की सम्भावनायें होनी चाहिए।

(ग) मूल उद्योग की उत्पादक और संचालन प्रक्रियायें अहिंसक, समाजहितकारी तथा शोषण रहित होना चाहिए। मूल उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसकी सामग्री स्थानीय रूप में उपलब्ध हो सकें तथा बिक्री भी स्थानीय रूप से हो सके।

(घ) मूल उद्योग ऐसा होना चाहिए जो अन्य उद्योगो को स्थानीयता का लाभ दे सके, सहयोग कर सके।

(4) नागरिक जीवन के कार्य कलाप–

इसके अर्न्तगत नागरिक जीवन की वे सारी बातें आती है जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन बिताने में उपयोगी है। जैसे – सहयोग, सहिष्णुता, वैचारिक स्वतंत्रता आदि गुर्णो के साथ इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि विषयों को भी पाठ्य–क्रम में सम्मिलित करना चाहिए।

(5) मनोरंजन एंव सांस्कृतिक कार्य कलाप–

जीवन में अवकाश का सदुपयोग तथा भावना का पोषण भी महत्वपूर्ण है।इसके अन्तर्गत ललित कलायें, साहित्य,धर्म, नाट्य–अभिनय, पर्व त्योंहारों का आयोजन आदि का समावेश वांछित है।

इस प्रकार पाठयक्रम का यह पचांग बेसिक शिक्षा का मूलाधार है। जो सद् जीवन यापन के लिए प्रस्तावित किया गया था। गाँधी जी की दृष्टि में सर्वोदय का यह बेसिक शिक्षा वाला पाठयक्रम एक नये और उन्नत समाज के निर्माण का माध्यम बन सकता है।

सन् 1927 के कॉंग्रेस के वर्धा अधिवेशन में गाँधी जी ने इसे प्रस्तुत किया और कॉंग्रेस ने इसे अंगी कार किया।

सर्वोदयी शिक्षा का आधुनिक परिप्रेक्ष्य–

हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली पर सर्वोदय का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा। आजादी के बाद गाँधी जी के सिद्धान्त पर निर्मित बुनियादी शिक्षा राष्ट्रीय

शिक्षा के रूप में स्वीकृति की गई। सरकारी तंत्र के हाथों में पड़कर उक्त शिक्षा प्रणाली असफल अवश्य हुई किंतु उसके कतिपय प्रभाव हमारी शिक्षा के स्थायी आधार बन गए। वर्तमान शिक्षा ने उक्त बुनियादी शिक्षा से निम्नलिखित तीन बातें ग्रहण की –

(1) बुनियादी शिक्षा का मूल उद्योग अब हमारी वर्तमान शिक्षा में कार्यनुभव के रूप पुनः जुड़ गया है।यह कार्यानुभव उत्पादकता का आधार है।

(2) ज्ञान और अनुभव को एक साथ जाडने की बात अब सर्वमान्य हो गई है। इसी लिए पाठ्य क्रम में ज्ञान के साथ–साथ अनुभव को सम्मिलित किया जाने लगा है।

(3) अनुशासन में लोकतांत्रिकता आ गई है। दण्ड का स्थान समाजिक दबाव ने ले लिया है। जो पूर्णतया अहिंसा मूलक है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली से भी जनमानस अब ऊब चुका है और शिक्षा में आमूल चूल परिर्वतन की बात करता है। किन्तु निश्चित परिर्वतन के लिए कोई दिशा बोध राष्ट्र के सम्मुख नहीं है। नए–नए प्रयोग शिक्षा में व्यापक स्तर पर किए जा रहें है जो एक दुंभाग्य का सूचक है। प्रयोग व्यापक स्तर पर न करके सीमित क्षेत्र से किए जाने चाहिए और प्रयोग में सफल सिद्ध हुई बातों को व्यापक स्तर पर क्रियान्वित किया जाना चाहिए, ताकि राष्ट्र का समय, सम्पत्ति और साधनों का दुरूपयोग न हो सके।

"<u>शिक्षा और महर्षि अरविन्द का अनुभवातीत सर्वांग दर्शन</u>"–

महर्षि अरविन्द ने वेदान्त के योग दर्शन की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अनुभवातीत सर्वांग दर्शन का प्रणयन किया। अपने इस दर्शन में उन्होंने योग के एक पक्ष को न लेकर सभी पक्षों को समन्वित किया। और सर्वांगता के साथ–साथ श्री अरविन्द केवल इन्द्रियानुभव को सर्वोच्च ज्ञान नहीं मानते। बल्कि उसे सबसे निम्न कोटि का ज्ञान मानते है। उनके अनुसार ज्ञान की अनेक कोटियाँ जिनमें आध्यात्मिक अनुभूति ज्ञान की सर्वोच्च कोटि है।

उनके मतानुसारः–

*" बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवनपूर्ण है, उसको अभिव्यक्त करने वाली होनी चाहिए।"

श्री अरविन्द एक देवी समाज और देवी मानव की कल्पना करते है। अतः शिक्षा का उद्देश्य उनकी दृष्टि में व्यक्ति और समाज की दैवी पूर्णता को प्राप्त करना है। जो छात्र के शरीर, प्राण, मन बुद्धि और आत्मा के विकास पर निर्भर हो। शिक्षा का सबसे महत्व पूर्ण अंग अन्तः कारण है। जिसकी निम्नांकित चार कोटियाँ है यथा

---

* Essays on Gita- by Arbind 1948 page no. 319

(1) चित्र (जो मानसिक संस्कारो तथा स्मृतियों का संचय स्थल है)।

(2) मन (जो इन्द्रियों से प्रभाव ग्रहण कर उनके प्रत्ययों एवं विचारो का निर्माण करता है)। इसे वे छटी इन्द्रिय निरूपित करते है।

(3) बुद्धि (जिसका कार्य ज्ञान सामग्री को व्यवस्थित करना है उसका वर्गीकरण करना तथा निष्कर्ष निकालना है) बुद्धि के माध्यम से हम कल्पना करते है, निरीक्षण करतें है। स्मरण करतें है तथा निर्णय लेते है। इसकी सहायता से ही हम अलोचना तुलना और निष्कर्ष निकालने की क्रियायें करते है।

(4) साक्षात् अनुभूति (जिसमें बिना किसी माध्यम के ज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूमि होती है।

श्री अरविन्द के अनुसार :–

*"मस्तिष्क को ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जो कि बालक में सुप्त ज्ञान के रूप में पहले से विद्यमान न हो।"

अध्यापक छात्र की सुप्त शक्तियों, योगिक क्रियाओं तथा साधना द्वारा जाग्रत करता है। बाहर से कोई नया ज्ञान आरोपित करने के साथ वह छात्र के अन्तः करण की विभिन्न उपरोक्त चारो कोटियों को विकसित करता है। अध्यापक का कार्य छात्र को अपने आपको समझने में सहायता करना है। उसका कार्य तथ्यों का प्रस्तुतीकरण नहीं, वरन् छात्र का मार्ग दर्शन है।)

श्री अरविन्द जी की पाठ्य चर्चा–

पाठ्यक्रम की पंचमुखी योजना भी उन्होने प्रस्तुत की है जो भौतिक प्राणिक, मानसिक, आन्तरिक तथा अध्यात्मिक है। बालक के विकास की क्रमिक उत्तरोत्तर अवस्थायें हैं इन पाँचो का विवरण निम्नवत है।

(1) भौतिक या शारीरिक–

सुदृढ़ शरीर संवेदनशील इन्द्रियां तथा सुन्दर अंगो हेतु वे
(अ) शरीर को संयमित करना
(ब) शरीर के सभी अंगो हेतु और क्रियाओं को विकसित करना
(स) तथा शारीरिक दोषों का निकरण करना। पाठ्यक्रम का प्रथमांश है।

(2) प्राणिक शिक्षा–

चरित्र निर्माण के लिए प्राणिक शिक्षा आवश्यक है। इसमें इच्छाशक्ति को दृढ़ करने का अभ्यास कराया जाता है।

---

*A sysnthesis of yoga By Arbind page no. 21

(3) मानसिक शिक्षा–

इसके अर्न्तगत चंचल मन को तीन उपायों द्वारा स्थिर करना इष्ट है। ये तीन क्रियायें हैं–

(अ) पूर्वार्जित ज्ञान को संचालित करना।
(ब) नवीन ज्ञान की खोज करना ।
(स) अर्जित ज्ञान का उपयोग करना।

(4) आन्तरात्मिक शिक्षा–

यह शिक्षा किसी पुस्तक या किसी उपदेश द्वारा नहीं दी जाती। इसे प्राप्त करने के लिए योग–साधना करना पड.ती है।

(5) आध्यात्मिक शिक्षा–

इस स्तर पर हमारी व्यक्तिगत आत्मा सार्वभौमिक आत्मा के साथ तादात्मक कर लेती है। इस दिशा को प्राप्त करने पर

* ''सहसा एक आन्तरिक कपाट खुल जाता है और एक ऐसी ज्वंलत ज्योति में प्रवेश प्राप्त हो जाता है जो अमरता का आश्वासन प्रदान कर, यह अनुमूति देगा कि तुम सदा ही जीवित रहे हों और सदा जीवित रहोगे।''

श्री अरविन्द जी का उपरोक्त शिक्षा दर्शन न तो भारतीय प्राचीन आदर्शो के प्रति पलायन है और न पाश्चात्य संस्कृति का अन्धानुकरण । उनमें दोनों ही विचार धाराओं का समन्वय है, जैसा कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के शिक्षा दर्शन में पाया जाता है। आज समन्चयवादी शिक्षा दर्शन की ही आवश्यकता है।

पराधीन भारत में शिक्षा के राजनैतिक प्रयास–

शिक्षा को उक्त दार्शनिक आधार देने वाले सभी विद्वान पराधीन भारत की कसमसाहट को व्यक्त करने वाले रहे हैं, उन्होनें वैचारिक पृष्ठ–भूमि तैयार करने का कार्य पूरा किया। किन्तु इन दार्शनिकों से हट कर कुछ भारतीय राजनेताओं ने शिक्षा के विकास के जो राजनैतिक प्रयास किए और समय–समय पर आन्दोलन, भाषाओं तथा विधायिका सभाओं में प्रस्ताव पारित करवा के शिक्षा की दुर्गति को समाप्त करने के कार्य किये हैं, उनका उल्लेख करना भी अति आवश्यक है। ये प्रयास सन् 1893 से प्रारम्भ हुए।

सन् 1993 में बडौंदा के महाराज हिजहार्ट ने श्री सायाजी राव गायकवाड. ने प्रारम्भिक शिक्षा को प्रयोग के रूप में अपने राज्यान्तर्गत अमरैली ताल्लुक में अनिवार्य किया और प्रयोग सफल होते ही सन् 1906 में सम्पूर्ण राज्य में लागू कर दिया।

---

* शिक्षा–लेखक अरविन्द धोष ''पृष्ठ सं. 58–59.

उनके इस शैक्षिक योगदान की प्रशंसा प्रों. एस. एन. मुखर्जी ने निम्नलिखित शब्दों मे लिखा है :-

*** "An Indian prince acheved What the British government found imposible that noble prince was his Highness the maharaja Sayaji Rao Gaikwad of Baroda "**

सन्1906 में सर इब्राहीम रहमतउल्ला और श्री सर चिमनलाल सेतल वाड. के नेतृत्व में बम्बई राज्य में अनिवार्य शिक्षा व्यवस्था लागू करने का जर्बदस्त आन्दोलन चलाया गया, और बम्बई की सरकार को मजबूर होकर एक समिति का निर्माण करना पडा ताकि अनिवार्य शिक्षा सम्भावनाओं का आकलन किया जा सकें। दुर्भाग्यवंश समिति की रिर्पोट अनुकूल न आ सकी और बम्बई सरकार को यह मुद्दा टालने का मौका मिल गया।

सन् 1910-11 में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था का मुद्दा राष्ट्रीय स्तर पर दो बार केन्द्रीय धारा सभा Imperial legistature में उठाया । जिसका जोरदार समर्थन प्रख्यात नेता पं. मदन मोहन मालवीय ने किया। यद्यपि उक्त प्रस्ताव 13 के विरुद्ध 38 मतों से गिर गया तथापि इस प्रयास को असफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयास का मूल्याकंन करते हुए, J.M. Sen ने लिखा है।

**"Gophale, no doubt failed , but the seeds sawn by him came up quickly"

अनिवार्य शिक्षा का जो लक्ष्य श्री गोखले जी पूरे राष्ट्र के व्यापक हित के लिए था उसें सन् 1918 में श्री विठ्ल भाई पटेल ने बम्बई के लिए प्राप्त कर लिया। श्री पटेल के प्रयास से बम्बई की धारा सभा में नागरिक क्षेत्रों में सभी जगह अनिवार्य शिक्षा का बिल पास हो गया।

सन् 1919 में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में गर्वनमेण्ट ऑफ इंडिया एक्ट पास हुआ और उस एक्ट के अनुसार पहली बार भारतीय मंत्रियों के हाथों में शिक्षा-व्यवस्था सौंप दी गई। भारतीय मंत्रियों ने शिक्षा की अनिवार्यता और इसके विकास में गहरी रूचि ली।

सन्1927 में गाँधी जी ने Basic Education का प्रस्ताव कांग्रेस के वर्धा अधिवेशन में पास कराया और वह बुनियादी तालीम या नई तालीम के नाम से विख्यात हुआ।

---

*Education in India - today and tomorrow page no 21

** History of elementry education in India, Calcutta book copretion 1933 page no. 197

सन् 1938 के आम चुनावों में प्रायः सभी राज्यों में काग्रेस की विजय हुई और वहाँ काग्रेस मंत्रिमण्डलों का निर्माण हुआ। राजनैतिक परिदृश्य बदल गया । सभी प्रदेशों में गाँधी की बुनियादी शिक्षा चालू कर दी गई।

स्वतंन्त्र भारत के शैक्षिक प्रयत्न–

पराधीन भारत के उपरोक्त प्रयासों के फल स्वरूप हमारी शिक्षा का वर्तमान स्वरूप हमें प्राप्त हो सका। सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हो गया और सन् 1950 में वह प्रभुसत्ता सम्पन्न पूर्ण लोकतांत्रिक राष्ट्र बन गया। हमारी शिक्षा–विकास और सुधार की प्रकिया बराबर गतिमान रही और हम संक्षेप में स्वतंत्र राष्ट्र के शैक्षिक सुधार के अभियान का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगें।

स्वतंत्रता प्राप्त किये हुए हमें अर्द्ध शताब्दी बीत गई। शिक्षा की वर्तमान स्थिति हमारे सामने चुनौती वन कर खडी है, सम्पूर्ण शैक्षिक व्यवस्था सुधार की आशा लगाए है, चाहे शैक्षिक ढाँचा हो, चाहे शिक्षा का माध्यम हो, चाहे प्रशासकीय तंत्र हो, चाहे उच्च शिक्षा हो या माध्यमिक या प्राथमिक शिक्षा हो, चाहे ग्रामीणों का शहरी शिक्षा ग्रहण का दावा हो, चाहे स्त्री शिक्षा हो, चाहे औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा हो और चाहे शिक्षा माध्यम और भाषा की बात हो, हमें सभी पक्षों पर विचाार कर उपयुक्त निर्णय लेना है।

हमारी महत्वांकाक्षायें अपरामित है और राष्ट्र के संसाधन अतिअल्प । अपनी इन्ही विवशताओं को देखते हुए राष्ट्र ने शिक्षा सुधार की पुनीत धारणा से उत्प्रेरित हो तीन–तीन शिक्षा आयोग नियुक्त किए जिनका विवरण संक्षेप में अधोलिखित है।

प्रथम शिक्षा आयोग–

डॉ.एस. राधाकृष्णन के सभापतित्व में पहला आयेग सन् 1948–1949 में गठित किया गया। इस आयोग ने हमारी उच्च शिक्षा के मूल्यांकन को लक्ष्य बनाया।

द्वितीय शिक्षा आयोग–

सन् 1952–53 यह आयोग माध्यमिक स्तर का शिक्षा समीक्षा हेतु गठित किया गया। इस के अध्यक्ष श्री लक्ष्मन स्वामी मुदालियर थे।

तृतीय शिक्षा आयोग–

सन 1964–66 डॉ. डी. एस. कोठारी को इस आयोग का अध्यक्ष बताया गया। इस आयोग ने शिक्षा के सभी स्तरों–उच्च शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा तथा बेसिक प्राईमरी शिक्षा को अपना क्षेत्र बनाया और शिक्षा के सम्पूर्ण पक्षों पर अपनी संस्तुतियाँ प्रदान की।

इन आयोगों के अतिरिक्त केन्द्र सरकार ने दो श्वेत–पत्र राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर प्रसारित किए जो प्रथमतः सन् 1968 की जुलाई में तथा दूसरा सन् 13 मई 1986 में राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत किए।

मई सन् 1990 में राष्ट्रीय मोचा का केन्द्रीय सरकार ने आचार्य राममूर्ति (वरिष्ट नेता, जनता दल) की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय समिति गठित की गई। जिसमें सत्रह व्यक्ति शामिल किए गए। इस समिति को निर्दिष्ट किया गया कि वह 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति विषय का श्वेत पत्र की समीक्षा करें।

उपसंहार–

परिवर्तनशीलता और गतिशीलता लोकतांत्रिक राष्ट्रों की आवश्यकता भी है और अनिवार्यता भी। प्रत्येक निर्वाचन कुछ न कुछ नया परिवर्तन लेकर प्रकट होते है । कभी एक दल अपने पूर्ण बहुमत से जनादेश लेकर आता है तो कभी किसी भी दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता और वह आंशिक जनादेश ले पाता है। पूर्ण बहुमत की स्थिति में एक दल की स्वीकृति नीतियाँ राष्ट्र के सभी पहलुओं पर अपना प्रभावकारी असर डालती है। कार्य की तीव्र गति, निश्चित और फलदायी होती है। राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास हो उठता है।

अल्पमत में रहने वाले विपक्ष की भूमिका, मूल्यांकन, समीक्षा और आलोचना की रहती है, जो कार्य कलापों में सुधार और संशोधन के जनक होते है।

किन्तु जब कोई दल पूर्ण वहुमत में नहीं आता है, तो विभिन्न दल अपने समाज विचार धारा वाले दलों के सहयोग और समायोजन के द्वारा सरकार बनाते है। यह स्थिति राष्ट्र के लिए अहितकर सिद्ध होती है। प्रायः प्रत्येक दल जो सरकार में सम्मिलित होती है वह राजसत्ता के माध्यम से अपने दलीय हितों की अभिवृद्धि की चिन्ता में उलझा रहता है। अनेक बिन्दुओं पर मतभेदों का भयावह रूप इस सीमा तक उग्र हो जाता है कि वह सरकार को समर्थन देना बंद कर देते है और इस प्रकार सरकार अल्पमतीय होने की स्थिति में गिर जाती है।

कभी कभी दलों के अस्तित्व और नीतियों की विभिन्नता के कारण सरकार में शामिल दलों में शीतयुद्ध या अन्तर्प्रवाहित कलह चलता रहता है।विभिन्न दल दूसरे दलों के प्रभाव को क्षींण और धूमिल करने के लिए प्रपंच रचनें में व्यस्त रहते हैं और जिनके विरूद प्रपंच सर्जन होता है। वे दल अपनी रक्षा और प्रपंच प्रतिकार के कामों में लगे रहते हैं। और राष्ट्रीय प्रशासन को क्षति उठानी पड़ती है।

भारतीय राष्ट्र ने परिवर्तन को इन दोनों स्थितियों का अनुभव किया है। सन् 1947 से सन् 1977 तक कॉंग्रेस पार्टी अपने पूर्ण बहुमत के साथ विजयी हुई और 30 बर्षो तक उसने लम्बी अवधि तक राजसत्ता सम्हाली। जिसका

परिणाम राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास संसार के सम्मुख आया। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में भारत अग्रणी राष्ट्र के रूप में उभरा और सम्पूर्ण विश्व ने उसके कार्यक्रमों की प्रशंसा की । यह दल कॉंग्रेस राजसत्ता में सबसे अधिक काल तक रही।

सबसे कम समय चौधरी चरण सिंह सरकार का रहा, जो संसद सत्र के प्रथम दिन ही अल्प मत में आ गए। तेरह दिन जीवित रहने वाली अटल बिहारी वाजपेयी सरकार को भी इतिहास अंकित कर चुका है।

भारत ने 1977 के बाद अनेक आने-जाने वाली अस्थिर सरकारें देखी।

(अ) मोरार जी देसाई सरकार।
(ब) चौधरी चरण सिंह सरकार।
(स) वी0पी0 सिंह।
(द) एच0डी0 देवगोडा सरकार।
(प) इन्द्र प्रकाश गुजराल सरकार।
(फ) अटल बिहारी वाजपेयी की 13 दिवसीय सरकार।
(व) पुनः अटल बिहारी वाजपेयी की राजग सरकार।

यहाँ यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा, कि चरण सिंह सरकार के पुनः कॉंग्रेस की बहुमत सरकार इन्दिरा जी के नेतृत्व में बनी, और उनके बलिदान के बाद राजीव सरकार तथा पी0वी0 नरसिंह राव वाली सरकारें भी कॉंग्रेस की रही।

इस प्रकार भारतीय लोकतंत्र ने अपने स्वरूप को विगल 56 वर्षो तक सुरक्षित रखा। जब कि हमारे पड़ौसी राष्ट्र पाकिस्तान में दो बार लोकतंत्र का बलिदान हुआ और फौजी अधिनायक वाद ने दोनों बार अपना प्रभाव जमाना चाहा, किन्तु विश्व मंच के आगे वे दोनों प्रयास असफल हो गए।

भारतराष्ट्र ने अपने विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का प्रचलन किया। जो सन् 1950-51 से अद्यतन निरन्तर चालू है। राष्ट्रीय विकास के विभिन्न पक्षों में राष्ट्रीय शिक्षा भी अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष लेकर उभरी। और प्रत्येक पंचवर्षीय योजना में उसके नए कलेवर, नए कार्यक्रम, तथा नए अभियान समाहित किए गए। अब हम भरतीय लोकतंत्र की बदलती हुई शैक्षिक आवश्यकताओं और तर्क दिए गए, राष्ट्रीय प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

हमारे शैक्षिक प्रयास राष्ट्रीय विकास के साथ संयुक्त है। राष्ट्रीय विकास के लिए तीन कार्य सूचियों का प्रावधान हमारे संविधान में किया गया है।

(1) केन्द्र सूची
(2) राज्य सूची
(3) समवर्ती सूची

केन्द्र सूची के अर्न्तगत वे विषय रेखांकित किए गए है जिन पर मात्र केन्द्रीय सरकार को कानून बनाने का अधिकार प्रदान किया गया है।

राज्य सूची–

केन्द्र सूची में आने वाले विषयों से भिन्न उन विषयों को राज्य सूची में रखा गया है जिन पर मात्र राज्य सरकारें कानून बना सकती है। शिक्षा संविधान के अनुसार राज्य सूची का विषय निर्धारित किया गया था।

समवर्ती–सूची–

समवर्ती–सूची में ऐसे महत्वपूर्ण विषय सम्मिलित किए गए है जिन पर दोनों सरकारें–राज्य सरकार और केन्द्रीय सरकारें कानून बना सकती है। यदि दोनो सरकारों द्वारा बनाये गए किसी कानून में विरोध पैदा होता है तो ऐसी विशिष्ट स्थिति में केन्द्र सरकार द्वारा पारित कानून मान्य होता है और राज्य सरकार द्वारा पारित कानून स्वतः प्रभाव हीन बन जाता है।

लोकतंत्र की बदलती धारणा के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर (प्रथम क्रांतिकारी परिवर्तन)–

भारत में शिक्षा की यह सबसे बड़ी विडम्वना थी कि शिक्षा जैसा लोककल्याणकारी विषय राज्य सूची में था। केन्द्र में शिक्षा मंत्रालय तो था किन्तु, शिक्षा के विषय में कानून बनाना उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर था। ब्रिटिश काल से चली आ रही इस दूषित परंपरा के परिणाम, भारत को निम्न लिखित रूपों में भोगने पड़े–

(1) राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा में एक रूपता न आ सकी।

(2) राज्यों पर केन्द्रीय सरकार का कोई नियंत्रण नहीं रहा।

(3) राष्ट्रीय सेवा में रत् अधिकारियों के विभिन्न राज्यों में होने वाले स्थानान्तरण से उनके पाल्यों की शिक्षा में व्यवधान हुआ।

(4) राज्य सरकारें शिक्षा के लिए केन्द्र से अनुदान राशियाँ तो लेती थी, परन्तु उनके सदुपयोग की समीक्षा तक नहीं कर पाती थी।

अतः उपरोक्त परिस्थितियों से चिन्तित केन्द्रीय शिक्षा मंत्री सी. एम. छागला ने सन् 1976 में 42 वें संशोधन के माध्यम से शिक्षा को राज्य सूची को साथ समवर्ती सूची में शामिल कराया। और इस प्रकार लोकतंत्र की अपेक्षा के अनुसार उन्होंने पहला क्रान्तिकारी परिवर्तन किया।

लोकतांत्रिक अपेक्षानुसार शिक्षा प्रणाली में दूसरा क्रान्तिकारी परिवर्तन–

केन्द्र के शिक्षा मंत्रालय का विलय मानव संसाधन विकास मंत्रालय में दूसरा क्रांतिकारी परिवर्तन था जो लोकतांत्रिक भारत की अपेक्षा के अनुकूल किया गया।सन् 1910 में ब्रिटिश शासन के अर्न्तगत केन्द्र में एक निष्क्रिय मंत्रालय था, जो अन्य लोकतांत्रिक कार्यकालापों से अलग अलग सा था। समाज कल्याण, स्वास्थय एवं परिवार कल्याण, खेलकूद, आदि पक्षों से शिक्षा मंत्रालय का कोई समन्वय नहीं था। अतः राजीव गाँधी सरकार में शिक्षा के सीमित मंत्रालय का विस्तार किया गया और इसे मानव संसाधन विकास मंत्रालय का अंग बना दिया गया। शिक्षा अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अन्दर एक विभाग हो गया। इस विभाग के लिए पृथक से एक राज्य मंत्री नियुक्त किया। शिक्षा का एक सचिवालय बना, जिसकी देख भाल एक सचिव करता है। सचिव की सहायता के लिए विशेष सचिव अतिरिक्त सचिव तथा शिक्षा सलाहकारों की व्यव्स्था की गई।

शिक्षा तंत्र को राष्ट्रीय स्तर पर और अधिक चुस्त–दुरूस्त और प्रभावी बनाने के लिए राष्ट्र स्तर पर केन्द्र में निम्नलिखित सहायक संस्थाओं की स्थापना की गई–

(1) शिक्षा व्यूरो
(2) शिक्षा प्रखण्ड
(3) शिक्षा डेस्क
(4) शिक्षा प्रति विभाग तथा,
(5) शिक्षा इकाइयों की स्थापना की गई।

उक्त संस्था के प्रभारी, संयुक्त सचिव, संयुक्त शिक्षा सलाहकार बनाये गए और उनकी सहायता के लिय प्रखण्डीय अधिकारियों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार केन्द्र में शिक्षा को अकेली एक इकाई के रूप में न रख कर समन्वित इकाई के रूप में रखा गया और उसके अंग–उपांगो का विस्तार कर उसे अधिक सक्रिय और कार्य समर्थ बनाया गया।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के शिक्षा विभाग में (C.A.B.E) Control advisory Board of education प्रधान संगठन है, जो राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस बोर्ड में –

(1) शिक्षा मंत्री (अध्यक्ष)।
(2) केन्द्रीय सरकार के शिक्षा सलाहकार।
(3) केन्द्र सरकार द्वारा मनोनीत 15 सदस्य। (जिनमें चार महिलायें होगीं)।
(4) पाँच सांसद तीन लोकसभा एवं दो राज्य सभा से।
(5) दो प्रतिनिधि विश्वविद्यालयों से।
(6) दो प्रतिनिधि अखिल भारतीय प्रावैद्यिक शिक्षा परिषद् से।
(7) प्रत्येक राज्य का शिक्षामंत्री।
(8) तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त इस बोर्ड का सचिव पदेन होता है।

उक्त बोर्ड की बैठकें वार्षिकी होती है जिनमें राष्ट्रीय महत्व के शैक्षिक विन्दुओं पर निर्णय लिया जाता है। उक्त बोर्ड की चार उपसमितियाँ है जो प्रारम्भिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, विश्वविद्यालीय शिक्षा, तथा सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार और उनका कियान्वयन करते है।

इन चारों समितियों में समन्वय अैर सामांजस्य बनाने के लिए एक उच्च समिति का निर्माण भी किया गया है। उपरोक्त बोर्ड का कार्य मात्र सुझाव देना है काश, सुझावों को कियान्वित कराने की प्रतिबंधात्मक शक्ति भी इस बोर्ड को मिल जाये तो परिषद सही अर्थो में लोक कल्याण कारी स्वरूप ले सकती है।

इनके अतिरिक्त तीन और महत्वपूर्ण परिषदें राष्ट्रीय शिक्षा को अपने विशिष्ट और निर्धारित कार्य क्षेत्र में कार्यरत रह कर गतिमान करती है जो निमांकित है–

1. All India council for technical education (AICTE)
2. University grant Commission (UGC)
3. National Council of Education research & Trianing (N.C.E.R.T.)

अन्य शैक्षिक संगठन भी केन्द्रीय सरकार के अर्न्तगत गठित किए गए है जिनके नाम निम्मंकित है:–

1. National Institue of Educational planing and Administration, New Delhi
2. Indian Institute of Advance Study, Simla.
3. Indian Council of Social Seience, Research, New Delhi.
4. Indian Council of historical Research,New Delhi
5. Indian Council of Phlosphical Research, New Delhi.
6. Kendriya Vidyalay Sangathan, New Delhi.
7. Navoday Vidyalaya Smiti, New Delhi.
8. Control Board of Secondary education , New Delhi.
9. Contral Institute of Indian languages, Mysore.
10. Kendriy Hindi Sansthan, Agra.
11. Control Institute of English & Foreign Language, Hyderabad.
12. Control Hindi Directrate, New Delhi.
13. Commission for Scientific and Technical Terminology, New Delhi.
14. Rastriya Sanskrit Sansthan, New Delhi
15. National Book Trust, New Delhi.
16. Indira Gandhi open University, New Delhi .

राष्ट्रीय बजट में भी योजना आयोग की सहमति और कोठारी आयोग की संस्तुतियो के अनुसार क्रांतिकारी परिवर्तन किए गए। जिनका संक्षिप्त उल्लेख निम्नांकित है।

(1) राष्ट्रीय सफल आय का 6 प्रतिशत शिक्षा मदपर व्यय करने का सुझाव कोठरी आयोग ने दिया था। इसी परिप्रेक्ष्य में पंचवर्षीय योजना में शिक्षा व्यय 3 प्रतिशत, से बढ़ा कर मोर्चा सरकार ने तथा 6 प्रतिशत, राजग सरकार ने बढ़ा दिया है। तथा सरकार और राज्य सरकारों के सम्मिलित व्यय को 20 प्रतिशत, तक कर दिया है।

(2) प्राथमिकताओं के अनुसार व्यय प्रावधान-

राष्ट्र ने लोक हितों को ध्यान में रख कर शिक्षा की विभिन्न मदों में प्राथमिकताओं को निर्धारण भी किया और उसी के अनुसार व्यय प्रावधान किए गए प्रथम वरीयता प्राथमिक शिक्षा और साक्षरता को देते हुए प्राथमिक शिक्षा को एक प्रतिशत तथा प्रौढ़ शिक्षा और साक्षरता को 26 प्रतिशत का प्रावधान किया गया।

(1) माध्यमिक शिक्षा तथा तकनीकी शिक्षा के व्यय में 5 प्रतिशत की कटौती गई। छटनी कुल्हाडी इस स्तर पर चली है।
(2) ब्लैक बोर्ड ऑपरेशन के स्वीकृत 30 प्रतिशत को घटा कर 20 प्रतिशत कर दिया गया।
(3) आनौपचारिक शिक्षा टीचर्स प्रशिक्षण और नवोदय विद्यालयों के बजटों की मदों में भारी कटौतियां की गई है।

संक्षेप में उपरोक्त परिर्वतन राष्ट्रीय आवश्यकतों को दृष्टिगत करके किए गए है। राष्ट्र पर आर्थिक संकट विद्यमान है, किन्तु आर्थिक संकट की वेला में भी रहे ध्यान रखना चाहिए कि कोई आवश्यक व्यय तो रोका न जाये और अनावश्यक व्यय में राष्ट्रीय सम्पदा का दुरूपयोग न किया जावे। यही संकेत निभिन्न पत्रकारों ने भी दिए है।

*** "The govenment's advocating severe ansterity on the country is on the brink of brank ruptey. Two pre-contions are necessary. Firstly, for the sake of economy a number of frait ful projects should not be closed, secondly, it is not the amount of money that matters, but how wisely it is spent."**

*** Administration of Education, Planing and Finance - Indian Express 10 Apr. 1989**
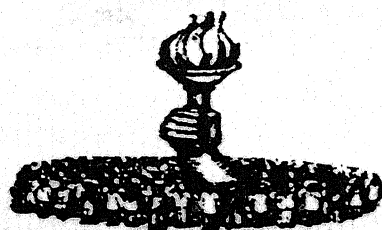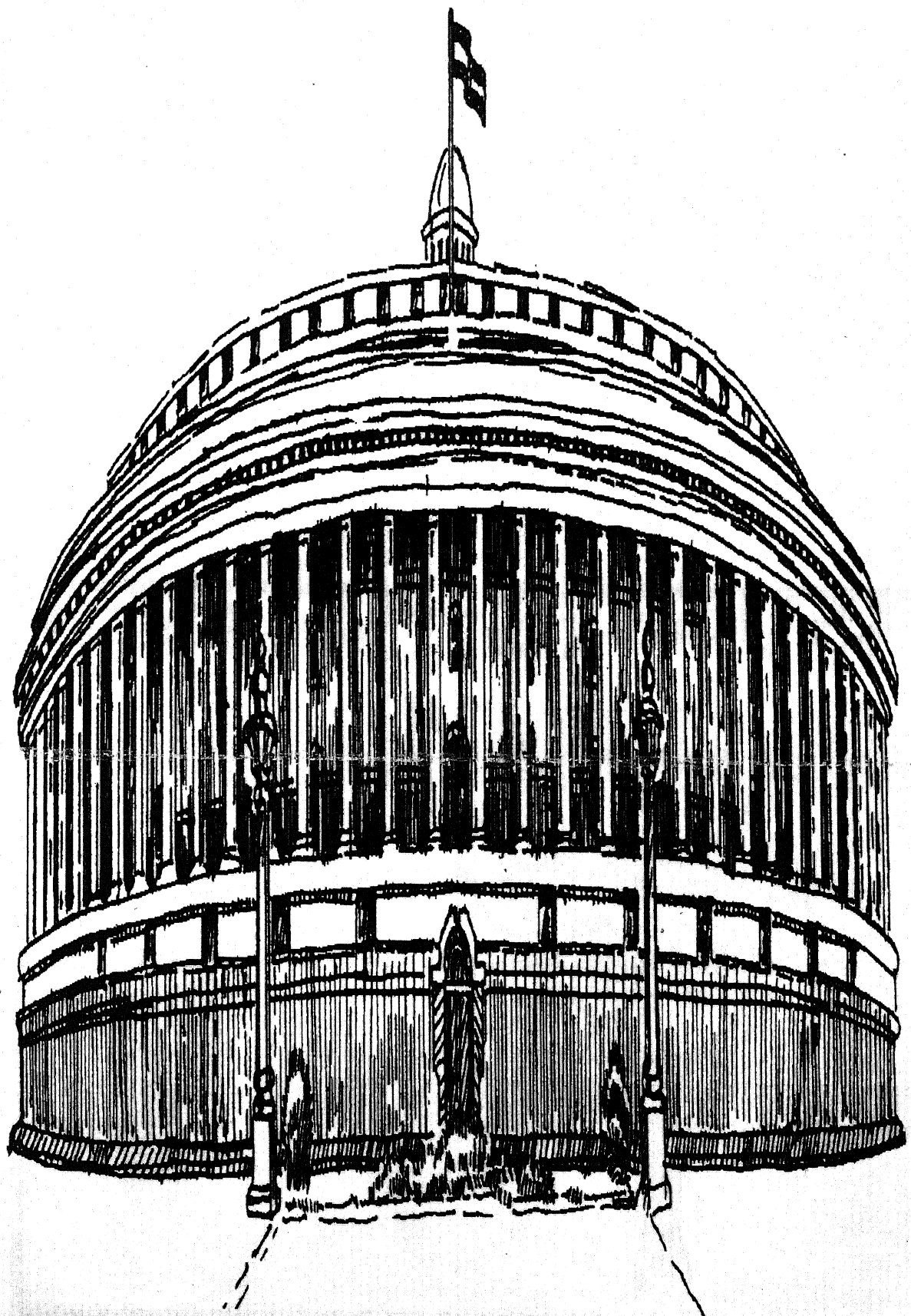
द्वितीय–अध्याय

''लोक संग्रहवादः– आविर्भाव और उसकी वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृति''–

'लोक–संग्रह' शब्द एक सामाजिक शब्द है जो लोक और संग्रह दो शब्दों के योग से निर्मित हुआ है। दोनों शब्दों के अर्थो की सामान्य धाराणाओं से भिन्न एक विशिष्ट अर्थ में इसे प्रयुक्त किया जाता है। हम पृथक–पृथक दोनों शब्दों का अर्थ और उनकी अर्थ व्याप्तियां स्पष्ट कर देना सबसे पहले आवश्यक समझते है। क्योंकि लोक शब्द का अर्थ व्याप्ति में परिवर्तन होते रहे है। इसी प्रकार संग्रहशब्द के शब्द–गत अर्थ कुछ और है, प्रतीक गत अर्थ कुछ और है।

हिन्दी में शब्द की अर्थ प्रकृति पर, जब हम विचार करते है तो स्पष्ट होता है कि शब्दों के अर्थ निकालने की तीन विधायें हिन्दी–सहित्य में प्रचलित है। जिन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के नाम से जाना जाता है।

(1) शब्द की अर्थवत्ता स्पष्ट ज्ञात करने के लिए जब शब्दकोष में उल्लिखित अर्थ को यथावत ग्रहण कर लिया जाता है, तब वहॉ अभिधा दूरग्रहीत अर्थ माना जाता है।

(2) लक्षंण विधा का अर्थ परिस्थिति और लक्षणों पर आधारित होता है। इस विधा में शब्द संकेत से केवल परिस्थिति, अवस्था, स्वरूप आदि के संकेत या लक्षण मात्र बताये जाते है और उन संकेत या लक्षणों के आधार पर पूर्ण लक्ष्य–अर्थ की विस्तृत निष्पत्ति की जाती है। उदाहरणर्थ स्त्रियों की मांग सिन्दूर से भरी रहना, उनके वैवाहिक जीवन और सौभाग्यवती (सुहागिन) रहने का लक्षण या प्रतीक है। यदि उसकी मांग का सिन्दूर पुछना कहें तो वह उसकी वैधव्य की स्थिति का द्योतक है। निःसन्तान की गोद–सूनी होना'', गर्भिणी के लिए पैर भारी होना आदि लाक्षणिक अभिव्यक्तियों द्वारा प्रकट किया जाता है।

(3) व्यंजना–

लक्षणा विधा से भी आगे व्यंजना विधि की अर्थ व्याप्ति होती है जो कार्य, कारण, प्रभाव और प्रेरणा आदि तत्वों पर आधारित होती है व्यंजना में शब्दों का शब्दगत या शब्दकोश अर्थ, नहीं वरन् अभिव्यक्ति में निहित विभिन्न अर्थो को ग्रहण किया जाता है, यह अर्थ प्रसंग सापेक्ष होता है जैसे जयपुर के राजा जयसिंह को (जो अपनी नवपरिनीता पत्नी की कामुकता में राज–काज से विरत हो गए थे) अपना दायित्व–बोध कराने हेतु भौरें के माध्यम बना निम्नांकित दोहा महाकवि बिहारी ने लिखा था–

''नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहि विकास यहि काल।
अली कली ही से बंध्यों आगे कौन हवाल।''

लोक संग्रह शब्द भी अपनी लाक्षाणिक अभिव्यक्ति में प्रयेग किया जाता है। इस शब्द की पूर्णता समझने के लिये, उसके दोनों स्वरूपों Denotation Conotation अर्थ व्यक्ति को समझना आवश्यक होगा। अतः लोक और संग्रह शब्दों की पृथक पृथक विवेचना निम्नांकित है।

(1) लोक–

प्रारम्भिक रूप में किसी स्थान के मूल निवासी मनुष्यों के समूह को " लोकशब्द से अभिहित किया जाता है, अंग्रेजी में उसका समानर्थी शब्द Folk है।" उस समूह की सम्पूर्ण अभिव्यक्तियों कों लोक–अभिव्यक्ति के नाम से जाना जाता था। उन अभिव्यक्तियों को उस समाज या समूह से जोड़ कर व्यक्त किया जाता था। जैसे "लोक रीति", लोक–कथार्ये, लोक गीत तथा लोक नृत्य आदि। अंग्रेजी में इन्हें Folk-talk, Folk-Song, Folk-Dance शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं।

किन्तु ज्यों–ज्यों कुटुम्ब, कबीलों, समूहों आदि के विस्तार होते गए, अन्य समूहों से उनके सम्बन्ध बढ़ते गये। त्यों–त्यों लोक शब्द की अर्थ व्यप्ति का विस्तार होता गया। इसीलिए यह शब्द कभी कुटुम्ब–कबीलो के लिए, कभी समूह के लिए, कभी समाज के लिए और कभी देश या राष्ट्र के लिए और आधुनिक परिवेश में सम्पूर्ण मानवजाति, के लिए प्रयुक्त होता रहा है। भारतीय जनमना प्रारम्भ से ही "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श मानता रहा है। वैदिक धारणा से कहा गया है–

"सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद दुखमाग्भवेत्।।"

सर्वत्व की यही भावना 'लोक' शब्द में समाविष्ट हो गई है। अतः अब आज की "विश्वीय–करण" वाली धारणा के परिप्रेक्ष्य में लोक का तात्पर्य सम्पूर्ण मानव – समाज है। जिसमें देशगत, जाति–गत, लिगं–गत, इंग–गत, भाषा–गत, और सम्पदा–गत भेद–भाव का कोई स्थान नहीं रह गया है।

विश्व–लोक आज एक लोक बन गया है। आधुनिक विज्ञान ने संसार को और निकट लाने का कार्य किया है। आज संसार का काई भी देश, प्रदेश या मनुष्य हमारी ज्ञानन्द्रियों की पहुंच से परे नहीं है। हम घर बैठे ही संसार के किसी भी क्षेत्र के मनुष्य से क्षण भर में टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो, कम्प्यूटरों तथा अन्य संचार माध्यमों से सम्पर्क बना सकते हैं। परिवहन की तीव्रतम गति से वांछित स्थान पर बहुत ही कम समय में पहुंच सकते है। आपदा के समय किसी भी देश को शीघ्र सहायता पहुंचा सकते है।

भौतिक उपलब्धि ने जहाँ संसार की दूरियां कम की है, वही संवेदनाओं और भावनाओं से विश्व के सभी मानवों को मानवता के ओर धरातल पर जगाकर एक कर दिया है। और सम्पूर्ण संसार में पारिवारिक–भाव की अभिवृद्धि भी कर दी है।

आज किसी राष्ट्र के सुख–दुख को सम्पूर्ण संसार बाँटने के लिए तैयार है। देवी आपदाओं में एक राष्ट्र को पीड़ित देख सभी राष्ट्र सहायता कार्य के लिए उधृत हो जाते है। कुछ दिन पूर्व भारत में आन्ध्र और गुजरात राज्य में देवीय प्रकोप के रूप में भूकम्प आया था, उस समय भारत की सहायता के लिये विश्व के सभी राष्ट्र सहायता हेतु तत्पर हो गए थे। आर्थिक, तकनीकी, चिकित्सीय, पुननिर्माण और पुर्नवास के कार्यों में भी राष्ट्रों ने सहयोग किया था। मित्रता शत्रुता की छोटी–मोटी बातें इन सहायता कार्यक्रमों में किस्मित मात्र भी बाधक नहीं हुई थी। चीन–पकिस्तान जैसे राष्ट्रों ने (जो हम से शत्रुता रखते थे) भी हमारी सहायता की थी। इसी पारिवारिक भावना की कल्पना हमारे ऋषियों ने हजारों वर्ष पूर्व कर ली थी,

और उसकी उद्घोषणाः–

''अयं निजः परोवेत्ति, गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।''

इस प्रकार हम देखतें है कि आज लोक शब्द उस मानव–समुदाय का पर्यायवाची बन गया है जो सारे संसार में व्याप्त है और जो मानवीयता युक्त है। हम कह सकते हैं, कि लोक का तात्पर्य उस जन–सामान्य से है जो अनेक विभिन्नताओं के बीच रह कर भी मानवीयता के सूत्र में आबद्ध है, चाहे वह किसी राष्ट्र, जाति, देश से सम्बन्धित क्यों न हो। लोक शब्द का अर्थ व्याप्ति और विस्तार, अब अपने मूल–शब्द से अधिक व्यापक हो गया है। इस शब्द का Denotation तथा Conotation दोनों ही, लोक से विश्व–लोक से समाहित हो गए है।

इसी प्रकार ''संग्रह'' शब्द भी ज्यादातर है। संग्रह का शब्दकोषीय अर्थ तो, ''जोड़ना, इकठ्ठा करना, संचित करना, सुरक्षित रखना आदि है किन्तु लक्ष्य शक्ति द्वारा संग्रह करना' एक दूसरा ही अर्थ रखता है।

संग्रह करने की प्रवृति का प्रेरक–कारण समय पर संग्रहीत वस्तु का सदुपयोग करना होता है। यह संग्रहीत वस्तु कभी हमारे स्वयं के काम आती है तो कभी–कभी अन्य ऐसे व्यक्ति के काम आती है, जिसे उस वस्तु की हमसे भी अधिक जरूरत होती है।

इस प्रकार संग्रह–क्रिया में निहित भावना कल्याण करने की होती है। इस कल्याण के दो रूप है। पहला आत्म कल्याण तथा दूसरा दूसरों का कल्याण। दूसरों के कल्याण को शास्त्रीय भाषा में परोपकारी कहा जाता है। भारतीय संस्कृति में उपनिषद् काल से ही परोपकार को पुण्य का कार्य निरूपित किया गया है :–

''ऋष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय पर पीडनम्।''

महाकवि रहीम ने तो संचय या संग्रह करने का उद्देश्य ही परोपकार निर्धारित किया है :-

"तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर करहिँ न पान।
यों रहीम परकाज हित्, सम्पति संचयहि सुजान।"

महाकवि तुलसीदास जी गोस्वामी की धारणा है कि परोपकार करने से, दान देने से सम्पत्ति का क्षय नहीं होता, वरन् उसका सदुपयोग और असका अभिवर्धन ही होता है-

उन्होंने कहा है :-

"तुलसी पक्षिन के पियैं, धटै न सरिता-नीर।
दान किए धनना धटै, जो सहाय रधुवीर।।"

परोपकार और पर कल्याण की वैयक्तिक भावना का जब मानवीयता के स्तर पर उदय हो जाता है, तब वह लोक-कल्याण अथवा लोक-संग्रह का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। लोक-संग्रह का सही अर्थ में तात्पर्य विश्व स्तर पर कल्याण की वह उदार भावना है, जो किसी प्रदेश, देश, राष्ट्र, संगठन, धर्म अथवा वर्ग विशेष की सीमा से परे अखिल विश्व की मानवीय संवेदनाओं के उदार धरातल पर क्रियमाण होती है। लोक-संग्रह के भाव में पूरी मानवता का भाव-निहित मानकर सम्पूर्ण विश्व के कल्याण का भाव-निहित है।

आज संसार में अनेक सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक संगठन इस पवित्र लक्ष्य से अविर्भूत है और मानवता की सेवा में अर्हनिशि कार्यरत है, जो संसार के जरूरत मंद भाईयों की सर्व-विधि सेवा और सहायता करते हैं। यहाँ इस प्रकार के सगठनों का नामोल्लेख कर देना प्रंसगायत ही होगा।

विश्व-स्काउटस एवं गाइड्स, विश्व-रेडक्रास, विश्व-बैक, विश्व-पंचायत, विश्व-सांस्कृतिक केंन्द्र, विश्व-स्वास्थ्य संगठन। उपरोक्त संगठन संयुक्त-राष्ट्रसंध 1948 (U.N.O) के सहयोग और सहकारिता में लोक-संग्रह के कार्य को मूर्तरूप दे रहे हैं।

लोक-संग्रहवाद का आविर्भाव-

द्वितीय महायुद्ध 1939-1942 की भयाभवता ने सारे विश्व को उसके विनाश की दस्तक सुना दी थी। जापान में (हिरोशिमा और नागासाकी शहर) की तबाही ने विनाश का ऐसा ताण्डव किया कि मानवता थर्रा उठी थी। हजारों बेकसूर मनुष्यों की मृत्यु तथा अणु और हाइड्रोजन बमों की रेडियो विधर्मी प्रभाव से हजारों बच्चे और गर्भस्य शिशु भी अपंग हो गए थे। विकलांगता का चमत्कार सारे विश्व के कान फोड़ रहा था।

सम्पूर्ण संसार का जनबल, धनबल, बुद्धि बल और नैतिक बल स्वाहा हो गया था। लूटी–पिटी मानवता चीत्कार कर रही थी । अकाल, अनावृष्टि और अतिवृष्टियॉ ने विश्वमानव को दानें–दानें का मुँहताज बना दिया था।

विश्व की समस्त मानवता इस विध्वंस को भुला, नए सृजन, नई रचना, नये भावी योजना बना उठीं। सृजन योजनाओं के लिए विभिन्न प्रकार की आवश्यकतायें एवं सहायताओं, की जरूरत सभी राष्ट्रों ने अनुभव की मित्र देशों ने अपने मित्रों की सहायता मित्रता के भाव से की, साथ ही आक्रमण राष्ट्रों ने अपने पाप–प्रायश्चित की भावना से प्रेरित हो, आक्रमित राष्ट्रों की सहायता की।

राष्ट्रों की पारस्परिक सहायता–सहयोग की इसी भावना ने लोक–संग्रहवाद की प्रवृक्ति को जन्म दिया। इसी लोक–संग्रह की भावना से सन्–1948 संयुक्तराष्ट्र–संध का जन्म हुआ। विश्व में शान्ति–स्थापित करने का धोषणा–पत्र बना और उसके तहत अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक और लोक–संग्रह के कार्य–प्रारम्भ हुए।

लोक–संग्रह प्रवृति से प्रेरित होकर आज अनेक विद्वान विश्व–राज्य (World govt) की कल्पना करने लगे हैं, सम्भव है, विश्व–राज्य या विश्व–सरकार की यह धारणा सन् 21वीं शती के अवधि में ही मूर्तरूप धारण कर ले। क्योंकि विश्व–बैंक, विश्व–पंचायत के बाद अगला कदम विश्व–सरकार का ही उठना ही हो।

लोक–संग्रहवाद का अविर्भाव हुआ हैं, इस मत से भी कुछ विद्वान सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि लोक–संग्रह की प्रवृति मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों में विद्यमान मिलती है, जो समय–समय पर प्रकट होती है और अन्य समय में अन्तर्निहित चलती रहती है। यह लोक–हितैषणा और सामाजिकता के समन्वय से निरन्तर विकसित होती है, इसका आविर्भाव न होकर प्रकटीकरण होता है। हम सभी जानते है कि आविष्कारों की जननी आवश्यकता होती है, लोकसंग्रहवाद भी द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद विश्व–विनाश की स्थिति में विश्व की आवशकतानुसार उधृत हो गई। यह अन्तः सलिला धारा की तरह धरातल पर सहसा दृष्टि गोचर हो गई। लोक–संग्रह, लोक–कल्याण, लोकोपकार आदि की विचार धारायें भारत–भूमि पर आज से हजारों वर्ष पूर्व से विद्यमान हैं, जो सारे संसार के कल्याण के लिए ज्ञान–विज्ञान और विचारों के साथ–साथ, धन–सम्पदा का दान भी करता रहा है :–

युद्ध–त्रस्त मानवता को मानव–कल्याण या लोक–संग्रहवाद का उदघोष महाकवि जय शंकर प्रसाद ने इन शब्दों में किया था।

"विजय केवल लोहे की नहीं; धरा पर रही धर्म की धूम,
भिक्षु बनकर रहते सम्राट, दया दिखलातें घर–घर घूम।
हमारे संचय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव,
भुजा में शक्ति, हृदय में भक्ति, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।"

लोक–संग्रहवाद और वैज्ञानिकता–

लोकसंग्रहवाद की संकल्पना आधुनिक शिक्षाशास्त्र की नवीनतम उपलब्धि है। फ्रांस की औद्योगिक क्रांति, और रूस की जार सत्ता के विरुद्ध रक्तपात जनित क्रांतियों ने तथा विश्व के दो–दो महायुद्धों ने विश्व के शांति–प्रिय नागरिकों को झक–झोर कर रख दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध की तबाही में विज्ञान और वैज्ञानिकों का बड़ा कुत्सित योगदान रहा है। भारत के स्वर्गीय राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ने अपने काल में उस विनाश को लोक–पीड़ा को अभिव्यक्ति देते हुए व्यथित स्वरों में कहा :–

"वेदना बढ़ी, बढ़ा विज्ञान।
न पाया मानवता ने प्राण।"

वास्तव में लोकसंग्रहवाद का अवतरण, जर्मनी–जापान के फास्टिवादी अहं तथा रूस के साम्यवादी–दमन,(जो व्यक्ति के व्यक्तिगत स्वतंत्र के विरुद्ध चला) अमेरिका के पूंजीवादी शोषण और इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी विचारों और प्रवृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। प्रजातांत्रिक या लोकतांत्रिक प्रणाली की राष्ट्रीय सीमाओं को तोड़ कर मानवतावाद का संशोधित रूप लोकसंग्रहवाद के रूप में विश्व–परिवार की भावना लेकर अवतीर्ण हुआ था। महात्मा गाँधी का सर्वोदय ही लोक–संग्रहवाद का जनक है।

महात्मा गाँधी ने विश्वकल्याण की इस भावना को अपने इन शब्दों में व्यक्त किया था।

***"My idea of Nationalism is that my country may die so that the human race may live." By Gandhi**

"राष्ट्रीयता का मेरा विचार यह है कि मेरा देश मर जावे, जिससे कि मानव जाति जिन्दा रह सकें" – महात्मा गाँधी

विज्ञान के संत्रास से दुखी प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ० एस. राधाकृष्णन ने आक्सफोर्ड में अपने भाषण में कहा था–

"मनुष्य, मनुष्य का दार्शनिक हो गया है। एक नया मानवतावाद (लोकसंग्रहवाद) क्षितिज पर उदीयमान है, किन्तु इस वाद में वह संपूर्ण मानवता समेटे है"

---

* महात्मा गाँधी शिक्षा दर्शन लेखक– डा० रामशकल पाण्डेय पृ०सं० 354

***"Man has become the philosophes of man. A new humanism is on the horizon, but at this time it embraces the whole of the man kind".**

लोक-संग्रहवादी विचार धारा का केन्द्र बिन्दु वह लोक-पुरुष, जन-सामान्य या विश्व का अस्तित्व वान मानव है, जो ईश्वर से अपनी कुछ विशिष्टतायें लेकर इस धरती पद जन्मा है। विज्ञान मनुष्य की उस विशिष्टता को नकारती है, विज्ञान की भाषा में मनुष्य सामान्यतः कुछ भौतिक तत्वों से निर्मित है। उसकी संरचना में भौतिक द्रव्य और उनकी रासायनिक प्रतिक्रिया का योग है, उसके अस्तित्व में कुछ कैल्शियम, कुछ पानी, कुछ ऊर्जा तथा कुछ ऊतक हैं। वह चलता-फिरता मशीन मात्र है।

जबकि दर्शन उसे ज्ञान-परक, संवेगपरक और क्रियापरक होने के साथ ही साथ विकासपरक और चेतन्य मानती है, वह "ईश्वर का अंश और ईश्वरीय-गुणों से परिपूर्ण है।"

विज्ञान की तीन शाखायें-

(अ) भौतिक विज्ञान।
(ब) रसायन विज्ञान।
(स) जीव विज्ञान।

उचित होगा हम पृथक-पृथक शाखा के आलोक में लोक संग्रहवाद या सर्वमानवता वाद का अध्ययन करें।

(अ) भौतिक विज्ञान-

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र इन्द्रिय-गम्य विषय ही है। वे इन्द्रियों के विषयों को ही अपने प्रयोग-कक्ष में प्रयोगात्मक परीक्षण कर अध्ययन करते है। इसके अनुसार जो कुछ उनके अध्ययन का विषय है, वही प्रकृति है, वही सत्य है। भौतिक विज्ञानी, परमाणुवाद में विश्वास करते हैं और कहते है कि परमाणु में- आकृति, परिमाण और गति-तीन गुण होते है। रूप, रस, गुणों को भौतिक विज्ञान स्वीकार नहीं करता।

पुराने परमाणुवादी परमाणुओं को ठोस मानते हैं, आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुओं को ठोस मानतें हैं, आधुनिक वैज्ञानिक परमाणुओं को एक प्रकार का सौर-मण्डल मानते हैं जिसमें केन्द्र के चारों ओर कुछ इलैक्ट्रोन चक्कर लगाते हैं। कुछ विज्ञानियों का मत है कि परमाणु के रूप में किसी द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं है। अस्तित्व में शक्ति Energy है। यह शक्ति तरंगों के रूप में प्रकट हो जाती है। यह समस्त विश्व उन्हीं तरंगों का खेल है।

---

* Philosphical foundation of India (Page no 107-Para 3)

*"इस प्रकार भौतिक विज्ञान जड़ और चेतन में भेद नहीं करता। प्रकृति में गति है, इसी गति के एक क्रम में जड़ में चेतना का प्रादुर्भाव हो जाता है, और दूसरे क्रम में चेतन में चेतना आ जाती है। ये दोनों परिवर्तन अकस्मात होते हैं, और किसी भी समय समाप्त हो सकते है।"

जानस्टुअर्ट मिल के अनुसार–

"कार्य और कारण दोनों घटना हैं, और इनमें पहले और बाद का सम्बन्ध है। आज भौतिक विज्ञान शक्ति की बात करता है, शक्ति की मात्रा स्थिर है, इसमें वृद्धि नहीं होती, इसका रूप बदलता है। अतः विज्ञान के लिए क्रम महत्वपूर्ण है, न कि द्रव्य।"

(अ) जीव–विज्ञान–

जीवन विज्ञान डारविन के विकासवादी सिद्धान्त पर आधारित है। डारविन के अनुसार मनुष्य का विकास पशु (बन्दर) से हुआ। परिस्थिति और आवश्कता के आधार पर पशु अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है और अपने विशिष्ट अंगों का विकास करता है। प्रकृति स्वयं चुनाव करती रहती है। जो समूह या व्यक्ति परिस्थिति के अनुकूल अपने को नहीं बना सकते, प्रकृति उन्हें समाप्त कर देती है और समर्थ ही शेष बचते हैं। विकासवाद के सिद्धान्त में डारविन के अलावा लैमार्क का भी अभूतपूर्व योगदान रहा।

जीव विज्ञान पर आधरित सिद्धान्त में कुछ बातें ऐसी उभर कर सामने आई है, जिनमें मानवतावाद और लोकसंग्रह वाद के तत्व बीज में निहित थे। संक्षेप में उनका वर्णन निम्नांकित है।

1– डारविन के विकास वादी सिद्धान्त ने मनुष्य को पशुओं की उच्चतम विकसित श्रेणी में गिना है।

2– उसकी सत्ता को चेतना मुक्त और अस्तित्व के संघर्ष में रत माना है।

3– उसके चेतना विकास की असीम सम्भावनाओं को स्वीकार किया है।

4– व्यक्तिगत संघर्ष के साथ ही सामूहिक संघर्षो में अपने निजी स्वार्थ को त्याग कर, सामूहिक–स्वार्थ को सिद्ध करने की क्षमता में दक्षतावान माना है।

5– अनुपयोगी अंगों की विलुप्ता और उपयोगी अंगो का विकास लक्षित किया।

6– गुणों, आदतों, भावनाओं और विचारों को पूर्व पीढ़ी से ग्रहण कर परवर्ती पीढ़ी में हस्तान्तरण में समर्थ बताया है।

---

*शिक्षा में प्रकृतिवाद लेखक– रामशकल पाण्डेय पृ०सं० 121

7- अस्तित्व के संग्राम में विजयी हो, अपनी शक्ति और योग्यता प्रदर्शित करने वाला तथा सहयोग और सामूहिकता में विश्वास करने वाला, युक्त प्राणी माना है।

स्वर्गीय राष्ट्र कवि गुप्त जी ने मानव की इसी बलिदान और त्याग की भावना को मानव और पशु में विनायक गुण माना हैं। उनकी दृष्टि में केवल अपना स्वार्थ साधना पशुत्व है, और दूसरों के हितार्थ बलिदान तक हो जाना मनुष्यत्व का लक्षण है। "राष्ट्र को उद्‌बोधन" नामक कविता में उन्होंने लिखा है-

*"यही पशु-प्रवृति है, कि आप आप ही चरे,
मनुष्य है वही कि, जो मनुष्य के लिए मरे।"

*"वृथा लिया ये जन्म तथा, आर वृथा लोक में जिए
मरा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिए"

<u>रसायन शास्त्री की दृष्टि में मनुष्य-</u>

यद्यपि विज्ञान और लोकसंग्रह वादी प्रवृति ने परस्पर 36 अंकों जैसा विरोध है, किन्तु कुछ दार्शनिकों ने इन दोनों विचार धाराओं में कतिपय विरोध होते भी एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया हैं, जिनमें ब्रूबेकर और मैसलों आदि प्रमुख है।

इन विद्धानों के अनुसार विज्ञान और मानव केन्द्रित लोकसंग्रह वाद में जो सामान्य एकता है। वह है, कि विज्ञान यदि मानव को सचेतन, भावनायुक्त और विचार मान ले (जैसा कि जीव-वैज्ञानिकों ने विकास वाद के सिद्धान्त में स्वीकार भी कर लिया है, तो लोक-संग्रहवाद की स्थिति उसके विकास की वह चरमास्थिति हो जाती । जिससे वह अपने सुख-दुख को भूल कर दूसरे के कल्याण में प्रवृत्त होता है, और निजी स्वार्थो को मानव जाति के कल्याण के लिये बलिदान कर देता है।)

इस प्रकार विज्ञान और लोक-कल्याण या लोकसंग्रहवाद का-दोनों का ही उद्‌देश्य मानव की सुख-शान्ति, सन्तोष और समृद्धि-स्थिर होता है। और इन परिस्थितियों में दोनों में दिखने वाला ऊपरी अन्तर समाप्त हो जाता हैं। विज्ञान का आधुनिक लक्ष्य संसार के मनुष्यों, वैज्ञानिक उपलब्धियों के सम्पूर्ण लाभ पहुँचना हैं। और अपने इस उद्‌देश्य में विज्ञान अपने विभिन्न क्षेत्रों में सफल भी हुआ है। चिकित्सा विज्ञान की उपलब्धियों आज अश्चर्य जनक रूप में मनुष्य को स्वरुप और दीर्घायु प्रदान की है। जीन्स की खोज ने वंश परम्परा से चले आ रहे विकारों से, मानव को मुक्ति दी है। वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के उपक्रम भी चिकित्सा-विज्ञान कर रहा है।

*उद्‌वोधन-गीत से, रचियता- श्री मैथिली शरण गुप्त जी

भौतिक विज्ञान की खोजों ने मनुष्य की सुख-सुविधा, मनोरंजन, खान-पान, आवास आदि की ऐसी सुविधायें जुटा दी हैं, जो कभी कल्पना में भी नहीं थी। आवागमन के साधनों के रूप में अब हम अत्यन्त तीव्रगामी, यानों, जलयानों और थलयानों के प्रयोग में पटु हो गए। जल-थल-नभ पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया है।

रसायन विज्ञान ने हमें विभिन्न रसायनों, औषाधियों और कृषि आदि के उर्वरक आदि प्रदान कर भूखी मानवता का पालन पोषण किया है। अनेंको प्रकार के पुष्टि कारक भोजनों का अन्वेषण कर, रसायन शास्त्र ने हमारी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति की हैं। सड़ने-गलने और जल्दी खराब होने वाली वस्तु के संरक्षण और उन्हें शुद्ध और तरोताजा रखने के विधान भी रसायन शास्त्र ने प्रदान किए है।

इस प्रकार हम देखतें है कि मनुष्य को सुख पहुँचाने वाले यंत्र, उपकरण, विधियों एवं साधन तो विज्ञान ने हमें उपलब्ध करा दिए है, किन्तु यदि मानव के स्वार्थ ने आपसी संघर्ष कर, अनैतिकता, शोषण, भ्रष्ट्राचार आदि मानवीय दोषों पर नियंत्रण न किया, तो सारी वैज्ञानिक प्रगति अर्थहीन हो जावेगी।

अतः लोक-संग्रहवाद मनुष्य की उस उदारता को उभारने का साधन है, जो मनुष्य को आदर्श, नैतिकता, दया, प्रेम, सद्भाव और परोपकार के भाव प्रदान कर, मनुष्य का हृदय-परिवर्तन कर सकता है। और सम्पूर्ण मानव-कल्याण हेतु अपने निजी स्वार्थों को तिलाजंलि दे सकता है।

वैज्ञानिक-लोकसंग्रहवाद की सार्वभौमिकता के सम्बन्ध में नेहरूजी का मत है "लोकसंग्रह की प्रवृत्ति और वैज्ञानिक प्रवृत्ति के बीच एक संश्लेषण ही, एक वैज्ञानिक लोक संग्रहवाद है। मानवीय ज्ञान की सभी विधाओं का सर्वोच्च लक्ष्य मानव को सुखी बनाना हैं।" कुमारी साविरा जैदी ले अपनी पुस्तक "Education and Humanism" में लिखा है-

*"**It is a philosophy of joyous service for the qreater good of all humanity in this natural world and according to the method of reason and democracy**"

लोक संग्रहवाद आधुनिक विज्ञान की सम्पूर्ण उपपत्तियों और वैज्ञानिक विधियों को मानव हित के लिए उपयोगी मानता है। लोक-संग्रहवाद की रूचि भौतिक विज्ञान की अपेक्षा जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, औषधि-विज्ञान तथा समाज -विज्ञान में है। क्योंकि ज्ञान की इन शाखाओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानवीय हितों से जुड़ा है। लोक-संग्रहवाद विज्ञान की दृष्टि में, विज्ञान सत्ता की प्रतिकृति नहीं है, बल्कि सृष्टि को नियंत्रित करने के निमित्त, मानवीय सृजन के रूप में उसे ग्रहण किया गया है, अतः प्राकृतिक नियमों का महत्व मानवीय-हित से विलग कुछ भी नहीं है।

---

*Education and Humanism by - S.K. Zaidi (Page 104)

मानववाद की संशोधित विचार धारा का नाम लोक–संग्रहवाद हैं। यह विचार धारा इन्द्रियानुभूत वैज्ञानिक विधि (Empirical Scientific Method)पर आधारित है तथा प्रकृति पर नियंत्रण करने के लिए प्राक–कल्पना (Hypothesis) एव प्रयोग (Experiment) दोनों का प्रयोग वांछित है। अतः धार्मिक और धर्म निरपेक्ष (Religious & Secular) के भेद भाव स्वयं समाप्त हो जाते है। इस वैज्ञानिक विधि के सार्वजनिक उपयोग के कारण सभी अध्यात्मवादी संस्थाओं की वैधता स्वयं समाप्त हो जाती है। शरीर और आत्मा, प्रकृति और पुरूष, सृष्टि और सर्वात्मा, जड़ और चेतन्य आदि के पूर्वानुभूत द्वैध (A Priori-Bifuircation) का इस विचार धारा में कोई स्थान नहीं है।

लोक–संग्रहवाद सातत्य (Continiuty) के सिद्धान्त में विश्वास करता है बौद्धिक, जैविक और भौतिक प्रक्रियाओं में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः सरल से जटिल प्रक्रिया का सातत्य, इस अन्तर को स्पष्ट कर देता है। यद्यपि भौतिक, जैविक एवं चेतन्य प्रक्रिया एक रूप (Identical) नहीं है। परन्तु इनमें सातत्य सम्बन्ध अवश्य है। भौतिक क्रियाओं से जैविक क्रिया और जैविक क्रिया से बौद्धिक क्रिया उत्सर्जित होती है। आधुनिक मानववाद, जिसे लोकसंग्रहवाद कहा जाता है, में विकास की प्रक्रिया को तीन चरणों में देखता है–

(अ) अजैविक से जैविक
(ब) जैविक से मनोवैज्ञानिक
(स) मनोवैज्ञानिक से सप्रयोजनिक (Purposvise)

यह सत्य है कि मानवीय अनुभव की सम्पन्नता और प्राकृतिक वातावरण की विविधता किसी एक सर्वग्राही तत्व के अन्तर्गत घटित नहीं की जा सकती। यह सृष्टि अपनी परिमाणात्मक एवं गुणात्मक विविधता के साथ एक जैसी दिखाई देती है, वैसी ही है। उसमें किसी एक तत्व को खोजने का प्रयास व्यर्थ है।

लोकसंग्रहवाद वस्तुतः एक मानवीय जीवन पद्धित है, जिसके नैतिक मूल्य मानव के अन्तर सम्बन्धों पर आधारित है। मनुष्य की आध्यत्मिकता, उसके विचारों की श्रेष्टता में परिलक्षित होती है।

(अ) लोकसंग्रहवादी विचार धारा में शिक्षा का तात्पर्य–

लोकसंग्रहवादी विचार धारा के अनुसार लोक की प्रारम्भिक इकाई मानव है, जो देश, राष्ट्र, जाति, वर्ण, लिंग एवं अन्य भौगोलिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक विभिन्नताओं के मध्य रहते हुए भी इन सीमित दायरों से परे हो, और विश्व का नागरिक हो। ऐसे मानव को केन्द्र मानकर उसके विकास हेतु किये गये समस्त प्रयत्न शिक्षा प्रक्रिया के अन्तर्गत आ जाते है। शिक्षा की इस मूल भावना को लक्ष्य कर, लोकसंग्रहवाद के निम्न लिखित तात्पर्य निर्धारित किये गये है–

(1) लोकसंग्रहवाद का उद्देश्य ऐसे मानव-व्यक्तित्व का विकास करना है, जो मानवीय समस्याओं के प्रति संवेदनशील और जागरुक हो, जो मानवीय कल्याण हेतु इन समस्याओं का निदान वैज्ञानिक चिन्तन-मनन द्वारा निकाल सके। तथा जो धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक विभेद की वर्जनाओं और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त न हो।

आज लोक जीवन के सम्मुख निम्नलिखित समस्यायें चुनौती बन कर खड़ी है। जैसे-

(i) दैनिक जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होना।
(ii) बढ़ती हुई जनसंख्या तथा निर्धनता।
(iii) यद्ध-आतंक और मानवीय अधिकारों का हनन।
(iv) अन्ध-विश्वास एवं रूढ़िगत पूर्वाग्रह।
(v) वस्तु सेवा और अवसरों की सुविधा में असमानता।
(vi) पर्यावरण-प्रदूषण एवं प्रकृति दोहन।
(vii) ऊर्जा संकट।
(viii) विभिन्न प्रकार की शारीरिक और मानसिक बीमारियाँ।

इन समस्याओं के निराकरण हेतु ऐसी शिक्षा होनी चाहिए, जो व्यक्ति के वैयक्तिक विकास (Personal Growth) को केन्द्र मान उसकी मानवीय कल्याण की चेतना का सृजन कर सके और वैयक्तिक कल्याण के साथ ही साथ लोक कल्याण की अविरल गंगा प्रवाहित कर सके।

(2) सन् 1970 तक लोक चिन्तन के मूल्य स्वतंत्रता, आत्माभिव्यक्ति, अतिशय वैयक्तिकता, सहिष्णुता, एवं भौतिक सुर्खाजन थे, परन्तु 1970 से 1990 के मध्य जो नई लोक समस्याओं ने जन्म लिया उन्हें लोकसंग्रहवाद ने हल करने के लिए निम्नलिखित वर्ग में संकलित किया। नवीनतम् समस्याये इस प्रकार है-

(अ) अभाव।

(ब) चिन्ता।

(स) स्पर्धा।

(द) उत्पादिकता।

(य) आज्ञाकारिता।

(र) संक्रीण राष्ट्रीयता।

(ल) पराश्रितता।

(व) अरक्षा आदि।

अतः अब लोकसंग्रहवाद के नये मूल्य व्यक्ति वाद से हटकर सामाजिक, स्वतंत्रय और सहक्रियाशील (Synergetic) "स्व" का निर्माण करने वाले हो गये हैं। अब नवीनतम परिप्रेक्ष्य में इस क्रिया का भेद ऐसे भावी युवक का निर्माण करना है, जो सहयोग और सहकारिता से सम्पन्न हो, तथा पारस्परिक सजनात्मक प्रवृत्ति का हो, जिसमें संघर्ष-निवारण की क्षमता हो, जिसमें आदान-प्रदान और सम्प्रेषण कौशल हो, जिसमें राजनैतिक संवेदनशीलता, सांस्कृतिक सुरक्षा का भाव एवं संगठनात्मक गुण पूर्ण रूप में विकसित हों। ऐसे व्यक्ति का विकास करना लोकसंग्रहवादी शिक्षा का ध्येय है। ऐसा ही व्यक्ति लोक कल्याण हेतु, लोकसंग्रह हेतु, त्यागमयी भूमिका निर्वाह कर सकते है। समष्टि हेतु व्यष्टि के बलिदान का विचार प्रेषित करते हुए राष्ट्र कवि स्व० श्री गुप्त जी ने लिखा है

*" निज हेतु बरसता नहीं, मेघ से पानी।
तुम हो समष्टि के लिए, व्यष्टि बलिदानी।।"

(3) लोकसंग्रहवाद मानव केन्द्रित तो है किन्तु स्वार्थ परक नहीं। वह शिक्षा के द्वारा ऐसे पूर्ण विकसित मानव की इच्छा रखता है, जो बाह्य जगत के साथ-साथ अपने अर्न्तजगत् के क्रिया-कलापों में भी दक्ष हो। उसका स्वरुप लोकरक्षक और लोकरंजक भी हो, उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र, विवेक पूर्ण और संतुलित हो, जो लोकतांत्रिक गतिविधियों में भाग ले सके, तथा जो ललित कलाओं का प्रशंसक और उनका संवाहक हो। ऐसे व्यक्ति अपनी अर्न्तनिहित रागात्मक वृत्ति का प्रकाशन कर सकें। जो शरीर से परिश्रम क्षम हों। क्योंकि शिक्षा द्वारा मानव को पशु-श्रेणी से पार्थक्य प्राप्त होता है।

भरत मुनि का कथन है-

** " संगीत-साहित्य-कला-विहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनाः।"

कु० साविरा कें जैदी ने भी इसी उद्देश्य को लक्ष्य कर कहा है कि शिक्षा द्वारा बालक मे रचनात्मक-समालोचना एवं समालोचनात्मक रचना की योग्यता का विकास करना चाहिए उनके शब्दों में-

***"The cultivation of constructive critieism and a critical constructiveness should be one of the fore- most aims of education"

* साकेत-श्री मै. श. गुप्त

** नाट्य शास्त्र-भरतमुनि

*** Education and humanism (Indian Institute of advance studies)

लोक-संग्रहवादी शिक्षा उद्देश्य, मानव की सभी योग्यताओं का विकास है। उसके सर्वांगीण-विकास में एक समुचित संतुलन भी होना आवश्यक है, किसी पक्ष के अधिक विकसित होने और अन्य पक्षों की उपेक्षा हो जाने से व्यक्तित्व में वह पूर्णता नहीं आ सकती। जो सुनियोजित और संतुलित विकास में पाई जाती है।

लोक-संग्रहवाद बालक की शिक्षा को लोकोपयोगी और लोकमान्य अवस्था में लाने का पक्षधर है। शिक्षा बालक को 'सभ्य'' सभा में बैठते योग्य वनाती है। सभा से यहाँ तात्पर्य सभ्य और सुशिक्षित व्यक्तियों का समुदाय है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने बालक को सभा-सद की योग्यता से विभूषित करना, प्रत्येक अभिभावक को अनिवार्य बताया है, जो अभिभावक अपने इस उत्तर दायित्व से विरत रहते हैं और अपने पाल्यों को शिक्षा-सुविधा से बंचित रखते हैं वे वास्तव में बच्चे के शत्रु हैः-यथा

*''माता शत्रु, पिता बैरी, येन बालों न पाठितः।
न शोभते सभा मध्ये, हंस मध्ये वको यथा।।''

प्रोफेसर हुमायुँ कबीर ने उपरोक्त श्लोक में निहित भाव को इस अभिव्यक्ति के द्वारा स्पष्ट किया है। और मानवों के पूर्ण विकास के अर्थ को निम्नलिखित अंश में व्यक्त किया है।

**''शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की पूर्णता एवं श्रेष्ठता का विकास करना है। पूर्ण मनुष्य समाज की प्रमुख संस्थाओं में भाग लेने की क्षमता रखता है। और दूसरे व्यक्ति के विचारों के प्रति सहिष्णु होता''

लोक संग्रहवादी दर्शन के अनुसार विद्यार्थी का व्यक्तित्व विलक्षण है, तथा उसकी नियति का निर्माण करने के लिए वह स्वतंत्र है। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के तीन तत्व प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण है :-

(अ) भौतिक शरीर को धारण करने वाला जीव, जिसकी संवेदनशील इन्द्रियाँ हैं, और विकसित मस्तिष्क है।

(ब) मानसिक संरचना जो आंशिक रूप से वंशानुगत है, तथा बहुलांश में परिवेश द्वारा प्रभावित हुई है।

(स) सामाजिक परिवेश जो व्यक्तित्व के विकास करने हेतु साधन-सुविधायें जुटाता है तथा समाजिक नियंत्रकों द्वारा विद्यार्थी का सामाजीकरण करने में सहायक होता है।

---

* नीति वचन

** प्रोफेसर हुमायूँ कबीर-शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठ भूमिः पृ0 38

मनुष्य होने के नाते प्रत्येक विद्यार्थी को प्रजातिगत Racial संस्कृति उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होती है। जिसे समृद्ध करने में उसका भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस भूमिका का निर्वाह करने के लिए आवश्यक है, कि उसके व्यक्तित्व का बहुरंगी और समन्वित विकास हो।

विद्यालय का दायित्व है कि वह विद्यार्थी के विलक्षण व्यक्तित्व का विकास करें, परिवेशगत जो भी बाधायें उसके उपरोक्त विकास में विघ्न डाले उन्हें दूर करने का काम आंशिक रूप से विद्यालय का और आंशिक रूप से राज्य का होता है। प्रत्येक विद्यार्थी को उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार उच्चतम विकास करने के लिए आवश्यक साधन-सुविधा जुटाने, उसे विकास का पूर्ण अवसर देने तथा विकास-कार्य की बाधाओं को दूर करने का काम विद्यालय का है।

लोकसंग्रहवादी शिक्षा भौतिक मान्यताओं को स्वीकार करते हुए भी इस बात पर बल देती है, कि प्रत्येक का आत्मिक और अध्यात्मिक स्तर उन्नत हो और उन में इस मानसिकता का विकास हो, जिनमें संसार की समस्त मानव जाति एक सूत्र में आवद्ध हो।

शिक्षा और ज्ञानार्जन की प्रक्रिया को प्रसिद्ध शायर इकबाल एक प्रकार की ईश्वरोपासना मानतें हैं।

***"To Educate a child in the true-worship of almighty god. It is a real service of goodness to the creater of life, for life is precious."**

डा. जाकिर हुसैन के मतानुसार परमानुभूति ही शिक्षा का परम ध्येय है यह अनुभूति साहित्य, संगीत, कला, उपन्यास, कहानी, नाटक और काम-कियाओं द्वारा सामान्य स्तर पर भक्ति, योग और ईश्वराधना द्वारा आध्यात्मिक स्तर पर प्राप्त होती है। इस परमानु-भूति को वे Peak-Experience कहा करते थे।

प्रसिद्ध दार्शनिक मैसलो जीवन इच्छा को पुष्ट और मरने की इच्छा को क्षींण करने के लिए शिक्षा को उपयोगी निरूपित करता है। उसके अनुसार जीवन मूल्यवान है, जीवित रहने की इच्छा करना, मरने की इच्छा करने से अधिक महत्वपूर्ण हैः- जीवित रहने की इच्छा रचनात्मक या विधेयात्मक है। और मरने की इच्छा निषेधात्मक या विनाशात्मक।

Muslow के शब्दों में-

****"The life is precious. The education should have a positive view to wards life; rather than Negative".**

*** Education : A Peak experience** - शिक्षा दर्शन पृ.59

**** Value in Education - Muslow. page - 108**

लोकसंग्रहवाद, मानव उत्थान को, मानवीयता का आधार (लोक–कल्याण है) मानता है, और इस दृष्टि से वह मानवता–वाद के काफी नजदीक है। प्रसिद्ध मानवता वादी विद्वान ब्रूबेकर का यह कथन लोक संग्रहवाद के कितने निकट है

***"Humanism , in broad sense , emphasises human nature and the human point of view in the light of human welfare."**

इस प्रकार हम देखर्ते है कि शिक्षा के सर्वोच्च और श्रेष्ठतम उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर, सम्पूर्ण मानव–समाज को लाभान्वित करना है। व्यक्ति की श्रेष्ठतम उपयोगिता, लोकोत्थान और लोक–कल्याण में समाहित है। लोक–हित की बात करना ही लोकसंग्रहवाद है। लोक–संग्रह की उपलब्धि में व्यक्तिगत, समूहगत या समाजगत अथवा राष्ट्रगत संकुचित सीमा–युक्त स्वार्थों को त्यागना ही श्रेयष्कर है। सीमित स्वार्थ के परित्याग में असीमितों के सुख और उनके कल्याण निहित हैं।

(ब)"लोक–संग्रह वाद का विकास, प्रभाव तथा लोक–शिक्षा आन्दोलन"–

लोकसंग्रहवादी विचारधार की विकास–गाथा अपने आप में एक लम्बी ऐतिहासिक यात्रा छुपाये है। आदिकाल से मनुष्य अपनी भलाई के लिये प्रयत्नवान रहा है, और व्यक्ति–कल्याण की पृथक–पृथक और व्यक्तिगत धारणा की सघनता ने लोकसंग्रहवादी प्रवृति का विकास किया।

लोकसंग्रहवाद या मानवीयता कल्याण की विचारणा का जन्म सहसा कभी नहीं हुआ, वरन् विचारों के निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के कारण इस विचार धारा के विकास होता रहा। विदेशों के शिक्षा–दर्शनों में इसके बीज अरस्तू Aristolle तथा सेण्ट थोमस एक्वाइन्स की विचार धाराओं में पाये जाते है।

ब्रूवेकर ने अपनी पुस्तक Modern Philosphies of Education में मानवतावादी धार्मिक–शिक्षा का उल्लेख किया है, जिसमें शिक्षक, विद्यार्थी को मानवीय अनुभवों के आधार पर वृहत की उपलब्धि पर बल दिया गया है। इस धार्मिक मानवतावाद की विशेषता मानव–अनुभव एवं मानव–प्रेरणा भी है। इस प्रकार, इस विचार धारा के तार अरस्तू और थामस के विचारों से जुड़े हुए है।

कालान्तर में विचारों की परिवर्तन श्रृंखला में मानव के अनुभव और मानव प्रेरणा का तर्क–बुद्धि (Logic) ने लिया और नई विचार धारा में थामस ने उसे तर्क–बुद्धि परक मानवतावाद की संज्ञा दी।

---

* शिक्षा–दर्शन–पृ. 358 by डॉ. रामशकल पाण्डेय,

ब्रूवेकर के शब्दों में तर्कबुद्धि परक मानवतावाद का केन्द्रीय विचार, मानव का तर्क–बुद्धि परक स्वभाव है, उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य जीवन की घटनाओं के "क्यों" की खोज में गहरी रूचि रखता है, और उसमें वैसी सामर्थ्य भी है। शारीरिक दृष्टिकोण से वह पेड़ो–पौधो की भाँति ही खाता–पीता और बढ़ता है, शिक्षा के क्षेत्र में इस दर्शन ने 'तात्विकवाद' पर बल दिया और कहा कि तर्क–बुद्धि या विवेक मनुष्य के स्वभाव की सर्वोच्च विशेषता है।

अतः शिक्षा का मूल उदेद्श्य बौद्धिक होना चाहिए। कलायें और मानवतावादी विषय बुद्धि के विकास में उसने अनिवार्य माने। ये लोग पाठ्यक्रम में इन विषयों को प्रधानता देते हैं। साथ ही इन लोगों का एक नारा स्वतंत्रता के लिए शिक्षा था।

इसे ब्रूवेकर तक आते–आते नव मानवतावाद में स्वतंत्रता के विचार जड़ें जमाने लगे थे। प्राचीन मानवतावाद जहाँ धार्मिकता, तथा उसके बाद तात्विक सुद्धियाँ, तार्किक विवेक, और अन्ततः स्वतंत्रता, भाव–विचारों को, केन्द्रस्थ किए था। वहीं स्वतंत्रता की भावना के साथ, उसके लोक–कल्याण या लोकसंग्रहवाद की किरणों को प्रकट करने लगा। सन् 1960 के बाद इस विचार धारा को एक नई गति और नई दिशा मिली।
सन् 1960 के आस–पास विश्व के अधिकांश देशों में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली ग्राह्य हो गई और मानव के व्यक्ति–वादी–विकास के स्थान पर लोक–कल्याण या जन कल्याण को प्रमुखता दी जाने लगी। यही जनकल्याण की भावना ने शैक्षिक जगत में लोकसंग्रहवादी विचार धारा को स्थान दिया। 1960 से 1970 तक लोकसंग्रहवाद का दर्शन शैक्षिक मानदण्डों के विभिन्न आयामों को तलाशता रहा। सन् 1970 के बाद से इस विचारधारा ने सारे विश्व के शैक्षिक जगत को आकर्षित किया। यूनेस्कों द्वारा प्रोत्साहन पाकर आज यह लोक संग्रहवाद के रूप में सभी स्वतंत्र और प्रगतिशील राष्ट्रों की शिक्षा–धुरी बन गया।

लोकसंग्रहवाद का उपरोक्त क्रमिक विकास विदेशी विद्धानों के मतानुसार प्रस्तुत किया गया है। जबकि भारतीय पृष्ठभूमि में इसकी ऐतिहासिकता वेद कालीन संस्कृति और ऋषि परम्परा से जुड़ी है। भारतीय जनमानस में आदि काल से त्याग मय भोग के उपभोग की संस्कृति विद्यमान रही है। भारतीयों ने सम्पूर्ण सृष्टि को ईश्वरमय देखा है।

अतः इस सृष्टि के जितने योग्य पदार्थ हैं, उन सभी पदार्थो में ईश्वरीय तत्व है। इस कारण अपनी भोग इच्छाओं की आवश्यकता को न्यूनतम बनाकर, (उन्हें आंशिक रूप में त्याग कर) योग्य वस्तु का कम से कम उपयोग करने का आदेश भारतीय वेंदो ने दिया। ताकि अवशिष्ट सृष्टि के भोगों का आनन्द अन्य प्राणी ले सके। दीक्षान्त के अवसर पर शिष्यों के लिए गुरूजनों का निम्नांकित उपदेश ध्यातव्य है :–

*"ईशा वास्य मिदं सर्व यद्किञ्यित जगत्यांजगत।
वेन त्यक्तेन मुज्जीथः मागृधः कश्चिद धनम्।"

---

* ऋग्वेद पृ0 सं0 112 श्लोक 311

उक्त श्लोक में ही लोकसंग्रहवाद की झलक स्पष्ट हो जाती है। त्यागपूर्ण-भोग, भोग कर ही संग्रह कर सकते हैं। और उस संग्रह का सर्वोत्तम उपयोग लोक-कल्याण है। भारतीय मनीषी ने इस श्लोक को अपने जीवन का आदर्श पथप्रदर्शक मान लिया था। कोई भी भारतीय नित्य प्रति स्वयं भोजन करने के पूर्व पंचग्रास पंचभूतों को अर्पित किए बिना भोजन ग्रहण नहीं करता था।

इस प्रकार भारत वर्ष में लोकसंग्रहवाद केवल एक दर्शन, या शैक्षिक-दर्शन मात्र ही नहीं है, वरन् सभ्य भारतीयों की जीवन-शैली के रूप में विकसित और मान्य रहा है।

लोकसंग्रहवाद का शैक्षिक जगत में प्रभाव और लोक-हित शिक्षा अभियान, लोक-संग्रहवाद की विचार धारा, सम्पूर्ण विश्व को भावी परिवर्तनों की आहट या पूर्व-सूचना देती है। अब सभी विचारक भावी-परिवर्तन की संभावनाओं और उनके अनुकूल शिक्षा का स्वरूप संकल्पित करने के प्रयास करने वाले है। आधुनिक-विश्व और आधुनिक भारत के लिए प्राचीन सन्दर्भो को अब नए प्रतिमानों की आवश्यकता अनुभव होने लगी है।

सुप्रसिद्ध अमरीकी सामाजिक-मानव शास्त्री मारग्रेट मीड ने ठीक ही कहा है:-

*"हम नए युग के इस सबसे महत्वपूर्ण सत्य का सामना करने से कतराते हैं, कि कोई भी व्यक्ति अपने जीवन भर उसी संसार में नहीं जियेगा, जिसमें वह उत्पन्न हुआ था। और न कोई उस संसार में मरेगा, जिसमें कि उसने अपनी प्रौढ़ावस्था में कार्य किया था।"

प्रस्तुत संसार आगे के परिवर्तन में क्या स्वरूप ग्रहण करेगा? इस बात को लेकर विद्धानों में दो विचार बन गए है-

1- परिवर्तनों के बावजूद अपने परम्परागत संस्कार को न बदलने वाले

2- परिवर्तनों को सम्पूर्ण विश्व या मानव समाज की परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्वीकार करने वाले।

आज के विश्व में एण्डरसन के अनुसार तीन नारों की गूँज, पूरी दुनियाँ में गूँज रही है :-

(1) स्वतंत्रता
(2) विकास
(3) आधुनिकीकरण

---

*The Coming age in Samoa - Margrate Mied

स्वतंत्रता व्यक्ति की राजनैतिक परिवर्तन की द्योतक है, जो किसी दूसरे के हस्तक्षेप को बर्दास्त नहीं करता। विकास व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि के नए आयाम प्रस्तुत करता है, जो सामाजिक परिवर्तन की धुरी बनता है। तथा आधुनिकीकरण हमें परिवर्तित हुई परिस्थितियों का श्रेष्ठतम लाभ उठाने की प्रेरणा देता है।

लोकसंग्रहवाद की विचारधारा ने परिवर्तनों के इन तीनों आधारों पर अपना व्यापक प्रभाव छोडा है। और अपने प्राक्कलन के आधार पर शिक्षा की प्रगति हेतु निम्नलिखित अभियानों की शुरुवात भी कर दी है।

सन् 1970 में संयुक्तराष्ट्र संघ ने विश्व-स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय-शिक्षा-वर्ष मनाया। विश्वस्तर पर सार्वभौमिक नीति के रूप में यह पहला शैक्षिक प्रयास हुआ, जिसने सारे संसार के प्रत्येक मानव को शिक्षित होने का अधिकार प्रदान किया। लोक-संग्रहवादी विचार धारा इस कार्य के मूल में विद्यमान रही।

अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-वर्ष 1970 के उद्घाटन-अवसर पर यूनेस्कों के निर्देशक श्री रेनूँ मेहयू ने कहा था-

*"जनसंख्या-विस्फोट, बस्तियों के नष्ट होने तथा महान सामाजिक और आर्थिक पुनरूत्थानों को एक ऐसे परिवर्तनीय संसार में हम रहते हैं, जिसमें अनेक कारक, शिक्षा को जनतंत्रीय बना रहे हैं। साथ ही वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप ज्ञान का तीव्रता से विकास व जनसंचार हो रहा है। और संसार के परम्परागत आधारों में क्रांति आ रही है। जब यह सब कुछ हो रहा हैं, तो फिर इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता, कि भूतकाल की भाँति शिक्षा पूर्व-निर्धारित संरचनाओं, आवश्यकताओं, व विचारों के अनुसार ही भविष्य के समाज के नेताओं का प्रशिक्षण करने का कार्य करे।"

लोक-संग्रहवादी विचार धारा के प्रभाव से ही सन् 1948 में विश्व के प्रत्येक नागरिक को मानवीय अधिकारों के अर्न्तगत शिक्षित होने का अधिकार प्रदान किया। श्री एस. एन. मुखर्जी इस उपलब्धि को रेखांकित करते हुए कहते हैं।

"The universal dectaration of Human Rights, adopted by the general assembly of United Nation in 1948, States in article 26.

** "Everyone has the right to education ___________ education shall be free at least in elementry and fundamental stages _________ elementry education shall be compulsory."

---

*रेनँ मेहयू: यूनेस्को निर्देशक के भाषण के अंश-भारतीय शिक्षा का समाजशास्त्र-सत्यपाल रुहेवा- पृ0सं0 22

** " Education In India; Today of Tomorrow- (Page-28)

लोकसंग्रहवाद का विस्तृत प्रभाव विश्वस्तर पर मनायें जाने वाले "अन्तर्राष्ट्रीय-बाल-शिक्षा-वर्ष 1979 में भी परिलक्षित हुआ।

इस बाल-शिक्षा-वर्ष का प्रारम्भ जनवरी 1979 से हुआ । विश्व के सभी देशों ने इस अभियान के अर्न्तगत अपने अपने राष्ट्रों में बालकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक-विवशताओं और विषमताओं को समाप्त कर, नए और श्रेष्ठ भावी संसार के निर्माण की नींव रखी।

भारत वर्ष में भी उक्त बिन्दुओं पर सार्थक कार्यवाही की गई। संयोग से यह वर्ष नेहरूजी का 90 वीं जयन्ती का वर्ष भी था।
शिक्षा मंत्री डॉ0कर्णसिहं ने इस बाल-वर्ष को लक्ष्य करके कहा था -

*"नेहरूजी के प्रति सच्ची श्रृद्धांजलि यही होगी, कि बच्चों का सही विकास हो और उन्हें ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक जानकारी दिलाई जावे, वैसे भी वे दुनियाँ में सबसे आकर्षक वस्तु हैं। विविध भावों में उनकी मुद्रा का अवलोकन सभी युगों, सभ्यताओं एवं समाजों में बच्चे, प्रेम और स्नेह का केन्द्र रहे हैं।"

सुधार्त, नग्न, शिक्षा से वंचित, एक वक्त भोजन पाने वाले, स्नेह, सुरक्षा और विकास के लिए अपेक्षित संरक्षण और स्वस्थ वातावरण से वंचित बच्चे, आज समाज के लिए चुनौती प्रस्तुत करते है।

शिक्षा मंत्री डॉ0 कर्ण सिंह ने बाल-वर्ष के अवसर पर यह नारा नारा दिया- " बच्चों की मुस्कान, राष्ट्र की शान" था। यह नारा लोकसंग्रहवाद की बुलन्द आवाज बन कर उभरा। इस नारे के अर्न्तगत भारत सरकार ने निम्नलिखित अभिप्राय बालकों के हित में चलाये। एक करोंड़ रूपयें के बाल कोष की स्थापना केन्द्र सरकार द्वारा की गई । इस नारे के अर्न्तगत भारत सरकार ने निम्नलिखित अभियान बालकों के हित में चलाये।

1. बाल-मजदूरी की समाप्ति।
2. बाल पुष्टाहार योजना / मंदबृद्धि बालकों की कल्याण योजना।
3. बाल वाड़ियों का गठन और क्रियान्वयन।
4. ब्लैक-बोर्ड आपरेशन-अभियान।
5. (अ) अनौपचारिक शिक्षा अभियान।
   (ब) - विकलाँग बच्चों की शिक्षा।
6. बाल-सुधार गृहों की स्थापना।
7. बाल-मेलों के आयोजन।
8. बालकों को निःशुक्ल पाठ्य पुस्तकें, सूची फार्म प्रदान करना।
9. छात्रवृत्तियाँ।
10. बालक और बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा-व्यवस्था, बालकों के अधिकार घोषणा-पत्र।

---

* साहित्य-परिचय का बाल-विशेषांक-पृ0सं0 10

सन् 1958 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने सारे विश्व को, बच्चों का ऋणी निरूपित करते हुए कहा-

*"Mankind owes to the child, the best it has to give"

"मानवजाति बालक की इस बात पर ऋणी है कि वह उसको अपनी सम्पत्ति में से सर्वश्रेष्ठ भाग प्रस्तुत करे।"

लोक-कल्याण (जो लोक-संग्रहवाद की आधार शिला है) के भाव से यह विश्व-अभियान चलाया गया था।

" अर्न्तराष्ट्रीय महिला-वर्ष" भी लोक-संग्रहवादी विचार धारा का परिणाम है।"

इस अभियान द्वारा समाज के पिछड़े हुए अंग के रूप में महिलाओं को देखा गया। उन्हें सामाजिक शोषण, उत्पीड़न, अशिक्षा और अस्वास्थ्य वातावरण से मुक्ति दिलाकर, उन्हें स्वतंत्रता, समानता और विकास का प्रकाश प्रदान करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया गया। उक्त महा-अभियान के उन्तर्गत निम्नलिखित योजनायें चालू की गई।

1. महिला समानाधिकार के आधार पर नौकरियों में पुरूषों के समान वेतन, पारिश्रमिक, एवं मानदेयों की व्यवस्था।
2. महिला स्वास्थ्य-कल्याण योजना।
3. मातृत्व-अवकाश की विशेष व्यवस्था।
4. परिवार-नियोजन सम्बन्धी जानकारियों का महिलाओं हेतु अभियान।
5. महिला शिक्षा अभियान।
6. महिला-कुपोषण-मुक्ति आन्दोलन (पौष्टिक आहार-योजना, गर्भणी-स्त्रीयों को निःशुल्क दवायें)।
7. महिला सशक्तिकरण (महिला मंगल योजना)।
8. पंचयात राज योजना के अन्तर्गत महिला आरक्षण।
9. महिला शिक्षा उत्थान।

इस प्रकार महिलाओं के कल्याण हेतु अनेक योजनायें विश्व स्तर पर और अखिल भारतीय स्तर पर चालू की गई है। महिला योजनाओं के संचालन में यह विचार सर्वदा ही अन्तर्मूत रहा है, कि महिला को शिक्षित, स्वस्थ, जागरूक और क्रियाशील बनाने का अर्थ आगामी सन्तति के स्वरूप को सम्भालने का एक वृह्द् उपकम है। महिला को शिक्षित करना पूरे एक परिवार को शिक्षित करना है।

---

*संयुक्त राष्ट्र संघ का वाल-अधिकार-घोषणापत्र साहित्य परिचय बाल-विशेषांक -S.P. Chaubey (Page 21)

विश्वस्तर पर मनाया जाने वाला "विश्व-साक्षरता दिवस"-'30 सितम्बर 1990' सारे संसार के राष्ट्रों ने निरक्षरता-निवारण अभियान के रूप में मनाया। इस अभियान में निरक्षर रहने वाले सभी स्त्री-पुरुषों, बाल, युवा, प्रौढ़ और वृद्धों, सभी को साक्षर बनाने की धारणा और कार्य-योजना बनाई गई। जो तीन निम्नलिखित स्तरों पर क्रियान्वित की गई।

1. प्रारम्भिक स्तर पर प्राथमिक शिक्षा पाँच वर्ष से बारह वर्ष की आयु वालों को अनिवार्य की गई। यह औपचारिक रूप में थी।

2. औपचारिक शिक्षा-12 वर्ष से ऊपर की आयु वालों के लिए थी, जिसका स्तर कक्षा 5 तक की शिक्षा के लिए निश्चित किया गया, और जो विद्यालय-भवन एवं विद्यालय-समय से भिन्न विद्यार्थी-वर्ग की सुविधानुसार अन्यत्र तथा अन्य समय में दी जा सके। ताकि इस आयु के व्यक्तियों को अपनी आजीविका के अर्जन में भी व्यवधान न हो।

3. प्रौढ़-शिक्षा (सामाजिक-शिक्षा) इस योजना के तहत 22 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों को शिक्षा के माध्यम से सामाजिक-चेतना का ज्ञान कराना वांछित था, यह शिक्षा एक ओर तो व्यक्ति को उसकी व्यावसायिक-योग्यता बढ़ाने का उपक्रम करती थी, और दूसरी ओर उनमें नागरिकता के गुणों तथा सामाजिकता का विकास करती थी।

सामाजिक शिक्षा में निम्नलिखित कार्यक्रमों को समाहित किया गया, जिनके आधार पर प्रौढ़ों को शिक्षित करने का लक्ष्य बना-

(1) साक्षरता का प्रसार करना।

(2) नागरिकता के गुणों का विकास करना।

(3) स्वास्थ-शिक्षा का प्रसार।

(4) व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था।

(5) सामाजिकता का विकास और मनोरंजन की व्यवस्था।

अक्टूबर सन् 1987 में सम्पूर्ण संसार के लिए International Task Force for Literacy गठित किया गया था, जिसमें एक लाख गैर सरकारी संगठनों ने सहयोग कर साक्षरता वर्ष को सफल बनाने का प्रयास किया जिसमें कक्षा 9 के 20 लाख छात्रों, उतने ही सरकारी कर्मचारियों को, इस अभियान में शामिल किया गया था, इसके अतिरिक्त भी सेना की तीनों शाखाओं के सैनिकों की पत्नियाँ, तथा अवकाश प्राप्त व्यक्तियों की सेवायें संसार से निरक्षता दूर करने हेतु, प्राप्त की गई।

इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को साक्षर बनानें के लिए चालीस रू0 का पारिश्रमिक प्रति साक्षर भुगतान किया गया।

इस योजना का लक्ष्य 1990-91 तक तीस लाख लोगों को साक्षर बनाने का था, किन्तु वह अपने प्रयत्नों में मात्र लक्ष्य का 15 प्रतिशत ही प्राप्त कर सका। इस अभियान का मूल्यांकन करते हुए प्रो० एस० एन० मुखर्जी ने लिखा है-

***" The literacy mission aimed at unparting literacy to thirty million until 1990-91, but the scheme has produced extrerncly poor results, which prompt government to scuttle it. Though no detail evalution has been carried out, it is estimated that the achevement to less than the fifteen percent of the target."**

उक्त योजनाओं के अतिरिक्त कतिपय योजनायें और चालू की गई जिन्होनें विश्वस्तर की शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन किए और मानव-कल्याण की दिशा को उज्जवल क्रान्ति प्रदान की।

(स) लोक की विचार धारा के प्रभावानुसार नवीन शिक्षा धारा-

आधुनिकीकरण से हमारा तात्पर्य वह प्रयास करना या ऐसा प्रभाव डालना जिससे कि एक व्यक्ति, संस्था या समुदाय या समाज या लोक-आधुनिक या नये समझे जाने वाले मूल्यों, दृष्टिकोणों, विचारों, संरचनाओं या संगठनों को अपनाने का प्रयास करे।

समान्यतः पश्चिमी देशों विशेषरूप से अमेरिका, ब्रिटेन, फ्राँस और रूस आदि द्वारा प्राप्त की गई मुहिम औद्योगिक प्रगति तथा भौतिक-उपलब्धियों की प्रचुरता के संन्दर्भ को ध्यान में रखा जाता है। आज लोक शिक्षा में वैज्ञानिकता तथा भौतिक उपलब्धि हेतु प्राद्योगिकी एवं तकनीकी शिक्षा पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

सम्पूर्ण संसार में तकनीकी शिक्षा को तीन स्तरों पर स्वीकार किया गया है। डिप्लोमा, स्नातक (डिग्री) परस्नातक पाठ्यक्रमों की प्रवृत्ति सारे संसार में प्रचलित हो गई है।

भारत में भी उपरोक्त तीनों स्तरों पर Techinical Education की व्यवस्था की गई। तकनीकी शिक्षा के लिए भारतीय संसद ने सन् 1987 में All India Council for technical education गठित की। जिसने सातवीं-आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं हेतु कार्य-क्रम तैयार किए गये।

---

* Education in India Today & Tomorrow - (Page 36)

उपरोक्त तकनीक शिक्षा-परिषद ने सातवीं योजना के शेष वर्षो और आठवीं योजना के सम्पूर्ण कार्य काल हेतु तेइस (23) परियोजनायें तैयार की, जिनमें से 12 योजनायें थोड़े से संशोधनों सहित क्रियान्वयन हेतु स्वीकार कर ली गई, शेष योजनायें क्रियान्वयन हेतु परीक्षणाधीन है।
इन योजनाओं के दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) स्वायत्त शासी संस्था वाली (2) विशिष्ट कार्यक्रमों वाली

(1) स्वायत्तता प्राप्त संस्था-

स्वायत्तता प्राप्त संस्थाओं का सम्पूर्ण व्ययभार भारत सरकार वहन करती है। ये संस्थाये निम्नलिखित हैं-

(क) National Institute of Foundary & Foreign Technology-Ranchi
यह संस्था सन् 1966 में यूनेस्को तथा संयुक्त राष्ट्र विकास योजना U.N.D.P. के सहयोग से स्थापित की गई थी, जिसका काम फाउन्डरी एवं टेक्नालोजी सम्बन्धी प्रशिक्षण, और अनुसंधान के कार्यक्रम संचालित करना है।

(ख) School of Planing and Architecture, New-Delhi यह संस्था 1955 में स्थापित की गई। सन् 1979 में Decmed University के रूप में इसे विकसित किया गया। यह स्नातक तथा परास्नातक एवं शेष पाठ्यक्रमों को वास्तुशास्त्र Architect में चलाती है।

(ग) International Centre for Science of technology education (ICSTE) इस संस्था की स्थापना सन् 1986 में की गई थी, इसका उद्देश्य सम्पूर्ण देश में अनेक ऐसी संस्थायें प्रारम्भ करना था जो शोध-केन्द्रों के रूप में और सहयोगी शोध केन्द्रों के रूप में विकसित हों।

(2) विशिष्ट कार्यक्रम हेतु संस्थायें-

विशिष्ट कार्य हेतु विशिष्ट संस्थायें सन् 1986-87 में प्रारम्भ की गई जिसका यहाँ मात्र नामोल्लेख किया जा रहा है।

(अ) Centre for Development of rural technology (C.DRTs)
ऐसी 15 संस्थायें 1980-81 में प्रारम्भ की गई । जो ग्रामीण आवश्कताओं पर आधारित अनेक प्रकार के Diploma Course चलती है।

(ब) Camomunity-Politechnics
36 ऐसे पोलीटेकनीक विद्यालयों की स्थापना सन् 1978-79 में इस उद्देश्य से की गई, कि वे इस योजना के अन्तर्गत ग्रामीण वातावरण और ग्रामीण आवश्यकताओं के अनुसार डिप्लोमा-स्तर की विभिन्न इन्जीनियरिंग शाखाओं के विभिन्न पाठ्यक्रम चला कर, ग्रामीण उत्थान में सहायक हों।

(स) Administrative staf College of India, Hyderabad

इस कॉलेज की स्थापना 1957 में भारत सरकार के शिक्षा और उद्योग विभागों के सम्मिलित उपक्रम के द्वारा की गई। इस कॉलेज में परास्नातक स्तर के पाठ्यक्रम निम्नलिखित शाखओं में प्रारम्भ किए गए।

(क) सामान्य प्रबंधन।
(ख) उत्पादन का कार्यकारी प्रबंधन।
(ग) मार्केटिंग-प्रबंधन।
(घ) आर्थिक प्रबंधन।
(प) तात्विक प्रबंधन (Meterial Managment)।
(फ) निवेश एवं नियोजन।

वर्तमान काल में भारत में तकनीकी शिक्षा की पाँच शाखायें है, जिनका विवरण अत्यंत संक्षिप्त रूप में निम्मांकित है-

(1) <u>डिप्लोमा-स्तरीय-</u>

तीन वर्षीय पाठ्यक्रम तथा साढ़े तीन या चार वर्ष के सेण्डबिच टाइप के पाठ्यक्रम हेतु 400 विद्यालय खोले गए है, जिनमें प्रतिवर्ष 70 हजार युवाओं को सिविल, मेकेनिक कल, इलैक्ट्रिक, इलैक्ट्रोनिक आदि शाखाओं में दक्षता प्रदान की जाती है। लड़कियों के लिए 42 पोलीटेकनिक पृथक से कार्यरत हैं। ये सभी विद्यालय अपने-अपने राज्यों के Board of Technical Education से सम्बद्ध है।

(2) <u>इन्जीनियरिंग एवं टेक्नीकल कॉलेज-</u>

लगभग 2000 की संख्या में स्थापित ये कॉलेज 34 हजार छात्रों को B. E. की उपाधि हेतु तैयार करते हैं। ये सभी कॉलेज अपने-अपने क्षेत्र के विश्व-विद्यालयों सें सम्बद्ध होते हैं।

(3) <u>परास्नातक इन्जीनियरिंग एवं टैक्नीकल कॉलेज-</u>

इनकी संख्या 105 है, जो 6,500 युवाओं को तीन सत्रों (Three Semester) में पूर्णकालिक तथा सेवा-नियोजित व्यक्तियों को अंशकालिक शिक्षण और प्रशिक्षण प्रदान करते है।

(4) <u>विशिष्ट तकनीकी विद्यालय (I.I.T.)-</u>

सम्पूर्ण देश में पाँच Indian Institute of Technoloty है, जो बम्बई, कानपुर, खडगपुर, मद्रास, नई दिल्ली में स्थापित किए गए है। इन विद्यालयों में माध्यमिक, स्नातक, परास्नातक तथा शोध परक पाठ्य कर्मो का प्रावधान किया गया है।

इनकें अतिरिक्त निम्नलिखित चार अन्य संस्थान भी तकनीकी शिक्षा प्रदान कर रहें-

(क) Indian Institute of Science-Bangalore
(ख) Regional Engineering College जो संख्या में 17 है।
(ग) चार Technical Teacher's Training Colleges कलकत्ता, भोपाल, चंडीगढ़ तथा मद्रास में स्थित है, जो तकनीकी शिक्षकों को प्रशिक्षण देते है।
(घ) राष्ट्रीय स्तर के चार प्रावैधिक संस्थान और भी है, जो अहमदाबाद, कलकत्ता, बंगलौर और लखनऊ में स्थित हैं, जिन्हें Board of Technical Education कहा जाता है। ये बोर्ड अपने क्षेत्रान्तर्गत विभिन्न शाखाओं में कार्यरत व्यक्ति-प्रयत्नो Privatienter prizes को सभी स्तरों की तकनीक-शिक्षा प्रदान करने में सहायक हैं।

संक्षेप में लोकसंग्रहवादी विचार धारा का प्रभाव उल्लिखित तकनीकी शिक्षा में वर्णित किया गया है। भारतीयों के तकनीकी शिक्षा-अभियान को विश्व स्तर पर ऑकते हुए श्री एस0एन0 मुकर्जी का ध्यातव्य है-

*"It must aim at producing better workers and hoppier citizens and ought to make the life of Indian masser more secure and comfortable. ---------- It is a matter of great pride and joy that India ranks third in scientific field and technological techniques in the entere globe. --------- It is her a credit than she has done research in ocean technology extending over an area of 1,50,000 square kilometer's layout her shores"

इस प्रकार हम देखते है कि लोकसंग्रह की भावना ने शिक्षा की विभिन्न धाराओं में मौलिक परिवर्तन किए हैं तथा उन परिवर्तनों के प्रभाव भी हमारे सामाजिक जीवन पर परिलक्षित हुए हैं। अर्थाभाव, विशेषज्ञों की न्यूनता तथा अनुभवों की कमी भी, हमारी संकल्प शक्ति के आगे हार मान बैठी है। अभी हमने जितने परिर्वतन किए हैं, वे अपने आप में पूर्ण नहीं है। और न उनका पूरा लाभ राष्ट्र को मिल सका है। परिवर्तनों की शुरूआत ने भावी परिवर्तनों के लिए अनुकूल मानसिकता की पृष्ठ-भूमि अवश्य तैयार कर दी है। जो भविष्य में होने वाल शैक्षिक परिवर्तन के स्वागत हेतु आतुर है।

लोकहित की विचार धारा से प्रभावित शिक्षा की धारायें तथा धारणायें

लोक-कल्याण या लोकहित या लोक-संग्रह की विचारधारा ने शिक्षा की सभी धाराओं को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित किया है। इस शिक्षा के अन्तर्गत हम साक्षरता, प्रौढ़ शिक्षा, औपचारिक शिक्षा, प्रायमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, महिला शिक्षा और तकनीकी एवं वैज्ञानिक शिक्षा में हुए कतिपय परिवर्तनों का उल्लेख लोक-हित की भावना के परिप्रेक्ष्य में कर चुके हैं। अब हम उनकी पुनरावृत्ति करना मात्र पिष्टिपेषण ही होगा।

---

*Education in India : Today & Tomorrow (Page 111)

अतः अब हम लोकहित की व्यापक धारणा में शिक्षा-संगठन, शिक्षा-संचालन, शिक्षा में जन भागीदारी और उसके सुफलों पर संक्षिप्त प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

1- शिक्षा एक राष्ट्रीय निवेशः-

लोकसंग्रहवाद ने शिक्षा को एक लोक-हितकारी निवेश के रूप में स्वीकार कर पुरानी रूढ़िवादी वह धारणा समाप्त कर, पुरानी रूढ़िवादी वह धारणा समाप्त कर दी हैं कि शिक्षा एक अनु उत्पादक निवेश है। इस मौलिक परिवर्तन ने हमारे राष्ट्रीय पंचवर्षीय-योजना के निर्माताओं का ध्यान खींचा और उन्होनें राष्ट्रीय-सकल आय का 6% शिक्षा के लोक-हित कारी कार्यो में व्यय करना उचित माना हैं। कोठारी-आयोग ने भी 6% प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करने का सुझाव दिया था। 13 मई सन् 1986 को भारतीय संसद ने New Education Policy 1986 स्वीकार कर, शिक्षा पर राष्ट्रीय आय का 6% व्यय करना स्वीकार किया गया।

2- शिक्षा का सहयोगी और समन्वयकारी स्वरूप-

हमारी शिक्षा को तीन स्तरों पर व्यवहृत करने का लोक-हितकारी आधार प्रदान किया गया। आज शिक्षा केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय स्वायत्व और उदार वैयक्तिक प्रयत्नों में बँटी है। इस प्रकार केन्द्र और राज्य सरकारों में लोक-प्रतिनिधि, लोक कल्याण की शिक्षा के जागरूक प्रहरी है। स्थानीय स्तर पर स्वायत्तशासी संस्थायें और प्राइवेट-प्रबन्धकीय व्यवस्थायें, शिक्षा के पवित्र और लोक-हित के लक्ष्य को पारस्परिक सहयोग और सहकारिता के आधार पर संचालित करते हैं।

3-लोकहितार्थ-

सामाजिक समरसता-स्थापित करने हेतु शिक्षा के क्षेत्र से ऊँच-नीच, छुआछूत, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय धर्म और सांस्कृतिक वैषम्य को समाप्त किया गया है।

विद्यालय में अनुसूचित जाति आदि के लिए प्रवेश-स्थान भी सुरक्षित किए गए हैं। प्राथमिक स्तर पर पुष्टाहार, निःशुल्क पुस्तकों का वितरण, विद्यालय-वेशभूषा के लिए विभिन्न प्रकार की आर्थिक सहायतायें और छात्र वृत्तियों का प्रावधान भी लोक-कल्याण को दृष्टिगत रख कर ही किया गया है।

4-विद्यालय सामुदायिक क्रेन्द्र-

विद्यालय को सामुदायिक क्रेन्द्र के रूप में विकसित करना भी लोक-हित-चिन्तना का परिणाम है। पँचायती राज के अन्तर्गत शिक्षा को

लोकोपकारी स्वरूप प्रदान किया गया है। समाज में होने वाले प्रत्येक परिवर्तन में विद्यालय की भागीदारी होना उसके लोकसंग्रह की भावना का प्रतिफल है।

5-विद्यालय के सुचारू संचालन हेतु जन-सहयोग-

विद्यालय के सुचारू संचालन और छात्रों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रख कर यह आवश्यक समझा गया कि स्थानीय स्तर पर जनसहयोग-आर्थिक एवं प्रवन्धन-परामर्श के रूप में प्राप्त किया जावें। भारत वर्ष में शिक्षा के विभिन्न स्तर के विद्यालयों में जनसहयोग प्राप्त करने हेतु निम्नलिखित स्वरूप निर्धारित किए गए।

(अ) प्राथमिक स्तर के विद्यालयों में स्थानीय गण्यमान नागरिकों की एक विद्यालय समिति का निर्माण किया जाता है, ग्रामीण क्षेत्र के विद्यालयों में ग्रामपंचायत ही विद्यालय-समित का कार्य करती है। यह समिति विद्यालय के संचालन में प्रधानाध्यापक का सर्व-विधि सहयोग कर, उन्हें परामर्श उपलब्ध कराती है। राष्ट्रीय-पर्वो एवं विशिष्ट-समारोहों के आयोजनों में सहयोग करती है। विद्यालय की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयत्न करती है। तथा शिक्षकों और अभिभावकों एवं सम्पूर्ण समाज को शिक्षा प्रकिया में सहभागी बनाती है। छात्रों के सर्वांगीण विकास हेतु विभिन्न प्रतियोगिताओं, बाल-मेलों एवं पर्यटन की तथा अन्य शैक्षिक प्रक्रियाओं का आयोजन करती है, या आयोजन करने में विद्यालयों का सहयोग करती है।

(ब) माध्यमिक स्तर पर जन-सहयोग और सहभागिता प्राप्त करने के उद्देश्य से "अध्यापक और अभिभावक एशोसियेशन नामक संस्थाओं के गठन की वैधानिकता प्रदान की गई है। छात्रों के चतुर्मुखी विकास के लिए, विद्यालय की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु और विद्यालय को समाज का केन्द्रस्थ प्रकाश-स्तम्भ बनाने के उद्देश्य से उक्त संस्थाओं का प्रत्येक विद्यालय में गठन किया गया है। इन संस्थाओं की कार्य प्रणाली, कार्य-क्षेत्र और कार्यक्रमों के लिए राज्य, सरकारों ने कानून बनायें है। जिनके अन्तर्गत ये अध्यापक आभिभावक संघ कार्यरत है।

(स) उच्च शिक्षा को लोकतान्त्रिक रूप देने के उद्देश्य से छात्र-संघ का निर्वाचन तथा प्राक्तन-छात्र संघों का गठन आदि लोक कल्याण कारी कार्य किए जाते है। इन संगठनों का कार्य भी बहुत कुछ वही है, जो प्रायमिक-शिक्षा के स्तर पर विद्यालय समितियों का तथा माध्यमिक स्तर पर अध्यापक अभिभावक संघों का है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकसंग्रहवाद की विचारधारा ने शिक्षा के प्रत्येक पक्ष को प्रत्येक स्तर पर विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है। भारत वर्ष की स्वतंत्रता-परक प्रवृति ने गुलाम भारत की मैकाले वाली शिक्षा का पूर्ण वहिष्कार कर दिया है। अब स्वतंत्र भारत की शिक्षा का ध्येय एक ऐसे समुन्नत मानव का निर्माण करना है, जो सृष्टि की सर्वोत्तम उपलब्धि और परिणित हो।

विश्वस्तर पर लोक-कल्याण या लोक-संग्रहवाद भी भावना से उत्प्रेरित हो कर अनेक संगठन उद्भूत हुए हैं, जैसे- U.N.O संयुक्त राष्ट्रसंघ, UNESCO यूनेस्को, विज्ञान एवं सांस्कृतिक संगठन। आज अखिल-विश्व-स्तर की अनेक योजनायें-ओलम्पिक, विश्व-फुटबाल, क्रिकेट-मैच तथा अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म-समारोहों के आयोजन भी लोकसंग्रह वाद के अभियान है।

लोकसंग्रहवाद के अन्तर्गत होने वाले, शिक्षा और शैक्षिक पुनरुत्थान, अब सम्पूर्ण विश्व के त्रैगुणात्म-ऐक्य-मानव, राष्ट्र और विश्व-समाज में एकता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।

श्री एस० एन० मुखर्जी के शब्दों में निहित यह भाव निम्नांकित है-

* "Any great educational renaissance in the glove will have to formulate a harmomius relationship among the Triolody- Man, Nation and world society"

प्रसिद्ध दार्शनिक सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन के शब्दों में लोक-संग्रहवाद का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट हुआ हैं-

**" Education is not limited to the importing of informations or the treuning in skills. It has to give the educated a proper sense of values. Scientists and technologist are also citizens and so have a social responsibility to their world in which they live"

विश्व-कल्याण और विश्व-भ्रातृत्व के भाव ही लोक संग्रहवाद के आधार-स्तम्भ हैं, जिन्हें भरतीयों ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सूत्र में गूँथ दिया है। भारतीय कोकिला सरोजिनी नायडू ने इसी भाव को बड़े ही प्राभावोत्पादक ढंग से काव्य वाणी में अभिव्यक्त किया है-

*** " Let the peace encircle all the world
Let men walk hand in hand
A living bond of brotherhood
A voice from land to land"

- Word of Wisdom:

---

*Education In India Today: Tomorrow (Page 173)

**शिक्षा-दर्शन-रामशकल पाण्डेय पृ०सं० 29

*** A World of Wisdom -by Sarojini Naidu

हमारे वैदिक ऋषियों का लोकसंग्रहवादी दृष्टि-कोण निम्नांकित श्लोक में दृष्टव्य है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के लिए मंगलकामना व्यक्त की गई है-

*"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद दुख भाग् भयेत।"

*शिक्षा-दर्शन-रामशकल पाण्डेय पृ0 सं0 353
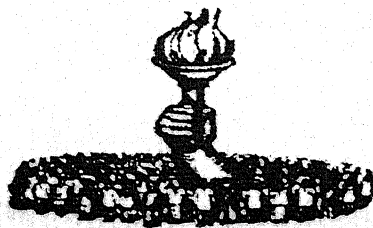
तृतीय–अध्याय

परिवार का बाल विकास एवं शिक्षा में योगदान

मानव-विकास में बाल्यावस्था एक अति महत्वपूर्ण सोपान है। अनेक अनुसंधानों एवं शोधों द्वारा इस बात की पुष्टि हो गई है कि परिवार बालक की संरचना एवं व्यक्तित्व विकास के लिए निर्माणशाला है, उसकी शिक्षा की प्रथम पाठशाला है। मनोवैज्ञानिक, शिक्षा-विद् और समाज शास्त्रियों के वर्ग इस बिन्दु पर एक मत हैं, कि बालक अत्यन्त गतिशील और लचीला होता है, उसे हम जिस साँचे में ढालना चाहें, उसी के अनुकूल हमें उसे परिवारिक पृष्ठभूमि, पारवारिक वातावरण और पारवारिक संस्कार सुनियोजित करना पड़ेगा। पारिवारिक सुनियोजन और कुनियोजन के ऊपर बालक के विकास और विनाश की पृथक-पृथक दिशायें प्रारम्भ हो जातीं है।

बालक भावी-राष्ट्र होते है, वे जितने अधिक विकसित, प्रबुद्ध, निष्ठावान और चरित्र वान होगें, भावी राष्ट्र भी वैसा ही बनेगा। बालक भावी राष्ट्र की ऐसी पूँजी हैं, जिन पर सम्पूर्ण राष्ट्र का उत्थान निर्भर है। अतः बालकों की समुचित और प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा जो विद्यालय जाने की आयु (6 वर्ष) से पूर्व परिवार द्वारा प्रदान की जाती है सबसे अधिक महत्व पूर्ण होती है क्योंकि यही परिवार-गत शिक्षा एवं संस्कार उसकी भावी उन्नति की पक्की और स्थायी नींव बनतें हैं।

बालक अपने आप में एक मिट्टी के लौदें के समान होते हैं ,जो कुशल-माता-पिता और परिजन कुम्हार के समान होते हैं जो उस बालक रूपी मृतिका-पिण्ड को विभिन्न आकार-प्रकार के वर्तन, खिलौनों आदि के रूप में परिवर्तित करते हैं। बालकों की इसी लचीली स्थिति का वर्णन श्री विष्णु शर्मा ने निम्नलिखित श्लोक में किया है :-

*

''यत्र वे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भनेत्।

कक्षाच्छले न वालानाम नीतिस्तदहि वाध्यते।।''

अर्थात् जिस प्रकार कच्ची मिट्टी के घड़े पर लगाया गया निशान ,उस घड़े पर सदैव बना रहता है उसी प्रकार बाल्यावास्था में जो संस्कार बनते है उनकी छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर जीवन पर्यन्त बनी रहती है।

अतः आज के प्रौढों, समाजशीस्त्रियों शिक्षकों, और राजनेताओं का यह कर्तव्य है, कि वे देश की भावी प्रगति के लिए अपने शिशुओं एवं बालकों के सर्वतोन्मुखी विकास पर ध्यान दें। सर्वतोन्मुखी विकास में बालक के शारीरिक-विकास, संवेगिक-विकास, बौद्धिक-विकास, सांस्कृतिक विकास आदि सभी पक्ष समाहित हैं। हम संक्षेप में विकास के इन पक्षों की विवेचना प्रस्तुत करते हुए प्रत्येक पक्ष के विकास में परिवार की भूमि का प्रदर्शित करने की चेष्टा करेंगे।

---

* बच्चों का विकास कैसे और किसके द्वारा ? - लेखक-राजेश्वर उपाध्याय, (रीडर बी0एच0यू0) साहित्य परिचर बाल समस्या विशेषांक-पृ0सं0 141

शारीरिक–विकास–

बालक के शरीर की संरचना उसके गर्भ–काल से ही प्रारम्भ हो जाती है। गर्भिणी माता के स्वास्थ्य पर गर्भस्थ शिशु के शरीर की संरचना आश्चर्यजनक प्रभाव डालती है। स्वस्थ का पुत्र स्वस्थ ही पैदा होता है, जबकि शारीरिक और मानसिक–व्याधियों से ग्रस्त माँ का शिशु अस्वस्थ पैदा होता है। इसलिए गर्भधारण करने वाली माँ के स्वास्थ्य, खान–पान, आचार–विचार, रहन–सहन, मानसिक संतुष्टि आदि बातों का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए ताकि शिशु शारीरिक रूप से स्वस्थ और मानसिक–विकृति–विहीन उत्पन्न हो। गर्भावस्था में माँ का डाक्टरी–परीक्षण करा लेना भी उपयोगी होता है।

जन्म लेने के बाद बालक का विकास–क्रम प्रारम्भ होता है। उसके विकास को हम निम्नांकित सोपानों में व्यक्त कर सकतें हैं।

(1) प्रथम सोपान – जन्म से दो माह तक।
(2) द्वितीय सोपान – दो माह से दो वर्ष तक।
(3) तृतीय सोपान – दो वर्ष से 6 वर्ष तक।
(4) चतुर्थ सोपान – 6 वर्ष से किशोर अवस्था 16 वर्ष तक।

उपरोक्त चारों सोपानों की विवेचना के अर्न्तगत हम पूर्व–वर्णित–शारीरिक संवेगात्मक, बौद्धिक एवं सांस्कृतिक विकास के विभिन्न पक्षों के सन्दर्भ में करेगें।

प्रथम सोपान (जन्म से दो माह की आयु तक) में बालक की शारीरिक विकास–

यह प्रारम्भ की अवस्था है जिसमें बालक पूर्णतः असहाय और परालंबित होता है। उसमें यह क्षमता भी नहीं होती, कि वह मानव स्वरों एवं अन्य ध्वनियों की पहिचान कर सके। भूख–प्यास, दुख–सुख आदि को व्यक्त केवल रो कर ही कर पाता है। न उसे सांकेतिक चेष्टाओं की जानकारी होती और न ही उसकी ज्ञानेन्द्रियों कोई प्रत्यय बना सकने में समर्थ होती हैं। केवल जन्मदायी माँ ही उसकी आवश्यकताओं, एवं कथाओं को अपनी स्वानुभूति और सूझबूझ से समझती है और यथा–विधि उनकी पूर्ति करती है। माँ का दूध मात्र ही उस शिशु का भोजन होता है, और माँ की ममता भरी परिचर्या ही उसके विकास का आधार होती है। मानव ही नहीं, वरन् पशु–जननी भी अपने शिशु के क्रमिक विकास की प्रथम कर्ताधर्ता होती है। इस सोपान पर माँ की वात्सल्यता को सभी वैज्ञानिक स्वीकार करते है।

कभी–कभी माँ के अभाव में अन्य महिला धात्री भी माँ की भूमिका निभाती है, तो ईश्वर उस महिला धात्री को भी, माँ की ममता का भण्डार प्रदान कर देता है और शिशु के लालन पालन और रक्षण की क्षमता उस धात्री के हृदय में, माता के सदृश्य ही भर देता है। मृतत्व का अपूर्ण सुख माता या

धात्री को इतना अधिक आनन्द या संतोष देता है, कि वे शिशु–परिचर्या में होने वाली असुविधाओं, कष्टों और परेशानियों को हँसते–हँसते सहन कर लेतीं है। वे अपनी सम्पूर्ण–सुविधा अपने शिशु के लालन–पालन पर सहर्ष न्योछावर कर देती है। इस अवस्था में शिशु की सामाजिक–भावना पूर्ण रूपेण सुप्त या अविकसित रहती है।

दूसरा सोपान (दो माह से दो वर्ष तक)–

दो माह के बाद बालक में ऐसे संकेत प्रकट होने लगते हैं, कि उसमें सामाजिक–चेतना का विकास प्रारम्भ हो गया है। इस अवास्था में वह मानव–स्वरों को पहिचानने लगता है। रोते हुए बालक से बतियाने पर वह चुप हो जाता है। रो रहे बच्चे को गोद में उठा लेने पर भी वह चुप हो जाता, और उसे कुछ संतुष्टि का अनुभव होने लगता है। 50% बच्चे 68 दिन की आयु में मुस्कारने लगते है। बल्कि तीन माह की आयु से 100% बच्चों को मुस्कारता हुआ देखा जा सकता है। उसकी यह मुस्कान Social-Smile है।

5–6 माह का बच्चा मित्रवत प्रेमपूर्ण और क्रोधपूर्ण व्यवहारों और स्वरों को पहिचानने एवं उनकी भिन्नता का अनुभव करने लगता है। दो वर्ष की आय वाला बच्चा दूसरों का अनुकरण करते हुए अपने हाव–भाव व्यक्त करने लगता है। वह यह इंगित करता है कि उसमें सामाजिक–चेतना का प्रार्दुभाव हो रहा है। इस अवास्था में बच्चा अपने अंगों का स्वयं संचालन करने लगता है।

बोलियों और थपंकियों की उसे पहिचान हो जाती है। विभिन्न अंगों के संचालन द्वारा वह अपनी अभिव्यक्यिाँ भी करने लगता है। परिवार–जनों की उत्तेजक क्रियाओं की प्रतिक्रिया भी बच्चे के आचरण में दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

तृतीय–सोपान (दो से 6 वर्ष तक)–

इस सोपान की अवस्था वाले बच्चे अन्य बच्चों के साथ खेलना एवं उनके साथ रहना पंसद करने लगता है। उसमें परस्पर भिन्नता एवं सहकारिता के भाव जगने लगते हैं नेतृत्व के गुण भी इसी अवस्था में प्रगट होने लगते हैं वह यह भी चाहने लगता है कि उसकी सामूहिक क्रिया शीलता को सामाजिक मान्यता Social-Apprroval मिले एवं उसके कार्यो की सराहना हो।

यही वह सोपान है जिसमें बालक का सर्वतोन्मुखी विकास प्रस्फुटित होता है, और उसके विकास की वहुविध–किरणें फूटती है। किन्तु दुर्भाग्य है कि इसी सोपान की साज–सभार में सबसे कम ध्यान दिया जाता है। शैक्षिक दृष्टि–कोण से यह अवास्था (Pre - prinary Education) की अवस्था होती है, जिसके लिए विदेशों में निम्नलिखित प्रकार के विद्यालयों का संचालन अति व्ययसाध्य होते हुए भी किया जाता है किन्तु भारत वर्ष में यह सुविधा केवल धनिक वर्ग या उच्च मध्यम वर्ग के व्यक्तियों तक ही सीमित रहती है। भारत वर्ष में केवल .005% बालक ही Pre - Premary Education प्राप्त कर पाते हैं।

अनुमानतः लगभग साढ़े चार करोड़ शिशुओं में से मात्र बीस लाख बालक ही निम्नलिखित प्रकार की संस्थाओं लाभान्वित हो पाते हैं, जबकि विदेशों में इस सोपान के 100% बच्चों को शिक्षा देने के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थायें चालू की जाती हैं। भारत में प्रचलित संस्थाओं की श्रेणियां हैं–

(1) नर्सरी पाठ्शालायों।
(2) किण्डरगार्टन पाठशालायें।
(3) मॉटेसरी पाठशालायें।
(4) पूर्व–बुनियादी पाठशालायें।
(5) अन्य प्रकार की पूर्व बुनियादी पाठ्यशालायें। जैसे–
(क) एक अध्यापकीय नर्सरी पाठशालायें।
(ख) नूतन बाल शिक्षा संघ।
(ग) निर्धनो हेतु पूर्व प्राथमिक पाठशालायें।

चतुर्थ–सोपान(6 वर्ष से किशोरावस्था तक)–

यह वह अवस्था है जिसमें बच्चों में सामूहिक चेतना (Graup Conciousness) विकसित होने लगती है। इसीलिए इस अवस्था का नाम (Gang - age) रखा गया है। इस अवास्था में बच्चे वैयक्तिक खेलों की अपेक्षा सामूहिक खेल अधिक पसंद करते हैं। बालक अपने समूह के प्रति निष्ठावान बन जाता हैं, प्रतियोगितात्मक खेलों में वह अपनी टीम को विजय श्री दिलाना चाहता है। इस अवास्था में उसमें, स्नेह, सहानुभूति, भिन्नता, नेतृत्व एवं सहयोग की भावनायें विकसित हो जातीं हैं। अस्तु, हम देखतें हैं, कि इसी अवस्था में बालक में अन्य विकासों के साथ शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक सामाजिक भावना का विकास भी अपनी पराकाष्ठा पर होता है। इसीलिए किशोरावस्था को बालकों के विकास की भी, सबसे महत्वपूर्ण अवस्था समझा जाता है। इसी अवस्था में बालक बालिकायें विषम लिंगी (Opposite - Sex) व्यक्ति के प्रति आकर्षित होते हैं। अतः Segration of Sex लिंगीय पार्थक्य उनमें चारित्रिक दुर्बलतायें पैदा कर सकता है एवं सामाजिक विकृतियॉं पैदा कर सकता है।

वर्तमान भारत में 6 वर्ष की आयु तक के बच्चों का अध्ययन नई शिक्षा नीति के साथी दस्तावेज (Programme of Action 1986) के अनुसार बाल स्वास्थ्य एवं बाल–शिक्षा के महत्वपूर्ण ऑंकड़ें निम्नांकित स्थिति दर्शाते है–
*
(1) 83% बालकों का वजन औसत वजन से कम है, इनमें 42% अल्परूप से कुपोषित है, 35% सामान्य रूप से कुपोषित हैं और 6% बुरी तरह से कुपोषित हैं।
(2) 6 वर्ष आयु के बालकों में से केवल 12% बालक ही अभी तक देश की I & C.S (एकीकृत बाल–विकास सेवा योजना) के अर्न्तगत लिए गए हैं।

---

* नई शिक्षा नीति–एक दस्तावेज भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र–लेखक–सतपाल रूहेला पृ0सं0 131

(3) सन् 2000 तक 75% बालकों को एकीकृत बाल-विकास योजना के अर्न्तगत लाये जाने का प्रयास किया जावेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान भारत में बाल-विकास के नियोजित प्रयास बहुत कम हुए हैं परिणामतः शारीरिक विकास में हम मात्र 17 % बालक ही, शारीरिक रूप से पूर्ण विकसित कर पाते हैं शेष 83 % बालक कुपोषण के शिकार और शारीरिक - विकास से वंचित हैं। इसी प्रकार उनके मानसिक विकास हेतु पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की दुर्दशा है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री डॉ. सतपाल रूहेला ने अपनी पुस्तक 'भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र' में पूर्व-प्राथमिक शिक्षण संस्थानों के सम्बन्ध में लिखा है-

***" यह तो स्पष्ट है कि इन संस्थाओं की संख्या अत्यन्त कम है, अभी तो हम 3 से 5 वर्ष की आयु के एक प्रतिशत बालकों को भी इन पाठशालाओं के अर्न्तगत नहीं ला सके हैं। देश के असंख्य बालकों को तो इन पाठशालाओं के दरवाजे दूर से ही देखना, अगले 20-30 वर्षो तक भी अपने जीवन में सम्भव नहीं होगा।"**

बालकों के विकास के उपरोक्त चारों सोपानों का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम बालकों के विकास के, विभिन्न सोपानों के विकास, का क्या योगदान, किस प्रकार अभीष्ट है? इस पर विचार करेंगे।

परिवार का बाल-विकास एवं शिक्षा में योगदान-

यह सर्वज्ञात सत्य है कि परिवार की आशाओं के केन्द्र-बिन्दु, बालक होता है। उसकी सुख-सुविधा के लिए सम्पूर्ण परिवार प्रयत्नशील रहता है। परिवार अपने सीमित साधनों में भी बालक की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु त्यागपूर्ण प्रयत्न करता है और बालक अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु परिवार जनों पर पूर्ण रूप से आश्रित रहता है। इसीलिए बालक को अपने परिवार-जनों के प्रति, आदर और स्नेह के भाव जागृत होते हैं, परिवार की इच्छा और आंकाक्षाओं को बालक इसी कारण सहजता से स्वीकार कर लेता है, उनके अनुकूल अपने आप को समायोजित करता है। इस प्रकार बालक परिवार के प्रभावी वातावरण में अपना विकास करता है। पारिवारिक वातावरण में ही अपने अर्न्तनिहित गुणों को विकसित करते हुए बालक प्रशंसनीय बन जाता है, और वहीं पर किन्हीं कारणो से अवमानना का पात्र भी बन जाता है। परिवारिक वातावरण की सन्तुष्टि उसे रचनात्मक प्रवृत्ति प्रदान करती है, और पारिवारिक अभाव एवं उपेक्षा उसके व्यक्तित्व कुण्ठा और विद्रोह के विध्वंसकारी भाव भर देता है।

---

* भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र : भारतीय शिशु का समाज शास्त्र पृ0 सं0 133

*"समाज में बालक का सम्मान उसकी पारिवारिक परम्परा के आधार पर होता है। रहन-सहन का भी इस सम्बन्ध में काफी योगदान रहता है। उच्च परिवार के बालक से समाज उत्तम व्यवहार की आशा करता है, इसी प्रकार कुशाग्र बुद्धि वाले माता-पिता के बच्चों से किसी भी विषय को ठीक से समझने की आशा की जाती है। चोरों के बच्चों पर लोग पहिले से ही सन्देहास्पद दृष्टि रखते हैं। एक प्रकार से समाज में बालक को आदर उसकी पारिवारिक परम्पराओं पर निर्भर है।"

इस प्रकार हम देखते है कि बालक का सर्वतोन्मुखी विकास उसके सामाजिक-आर्थिक स्तर (Socio - Economic Status) से प्रभावित होता है। परिवार का दायित्व है कि बालक को हर सुख-सुविधा तथा समुचित लाड़-प्यार प्रदान कर ऐसा वातावरण प्रदान करे, कि उसके व्यक्तित्व-विकास में उसे प्रतिकूल परिस्थितियों तथा अभावों का शिकार न बनना पड़े। सन्तोष एवं सुरक्षा की अनुमति के साथ ही बालक सामाजिक विकास की दिशा में अग्रसर हो सके, और यह दायित्व परिवार का है कि बालक में असुरक्षा और असंतोष के भाव न पनप सके। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि अति लाड़-प्यार और सुख-सुविधायें (Over devotion) बच्चे में परावलम्बन एवं निस्सहायता की भावना को बढ़ावा न देने लगे। बालक को अपने भावी जीवन में कुछ समस्याओं और कठिनाइयों का सामना करना होगा तथा उनके साथ सामंजस्य स्थापित कर सामाजिक सम्बन्धों को सामान्य बनाते हुए आगे बढ़ना होगा। भारतीय नीतिकारों ने बालक के लालन-पालन, वर्जना और ताड़ना तथा मित्रवत् आचरण के लिए आयुसीमा का निर्धारण निम्नवत् किया है-

**" लालयेत पंचवर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत।
प्राप्तेशोडषे वर्षे, मिंत्रवत् समाचरेत।"

बालकों के विकास में परिवार का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यहाँ 'विकास' शब्द में बालक के

(अ) शारीरिक-विकास
(ब) संवेगात्मक-विकास
(स) बौद्धिक-विकास
(द) सांस्कृतिक-विकास

समाहित हैं।

---

* शिक्षा का समाज शास्त्रीय आधारः परिवार एक शिक्षा संस्था-डॉ0 सरयू प्रसाद चौबे पृ0 सं0 225

** साहित्य परिचय, बाल-समस्या या विशेषांक पृ0सं0 143

इन चारों पक्षों के विकास में परिवार की क्या भूमिका वाँछित हैं? इस पर भी विचार करना आवश्यक है। अतः प्रत्येक पक्ष की विस्तृत-विवेचना एवं समीक्षा कर उसे संतुलित करना भी समीचीन है। इन चारों पक्षों का विकास एक ही काल में विभिन्न प्रकार एवं स्तरों पर होता है, किन्तु काल-क्रम एवं समयावधि कम होते हुए, विभिन्न पक्षों की दिशा एवं दशा भिन्न-भिन्न होती है। अतः इनका अध्ययन पृथक-पृथक और समेकित दोनों रूप में करना अभीष्ट है।

बालकों के शारीरिक-विकास के लिए तीन तत्वों, को उत्तरदायित्व के रूप में स्वीकार किया गया हैं, वे है-

(अ) संतुलित आहार।
(ब) खेल-कूद तथा व्यायाम की सुविधा।
(स) चिकित्सा-प्रबंध।

परिवार का उत्तरदायित्व है कि, बालक को संतुलित और पौष्टिक भोजन पर्याप्त मात्रा में सुलभ करावें।

Nourshing & Balance Diet में निम्नलिखित तत्वों का समुचित मिश्रण आवश्यक है। विशेष रूप से भोजन में कार्बोहाइड्रेट (Corbohydrate), वसा(Fat), प्रोटीन (Protien), नमक (Salts), खनिजपदार्थ (Mineral Nutrients) तथा सभी विटामिनों (Vitamines) का आदर्श संयोग आवश्यक है। भोजन के उक्त छः तत्व निम्नलिखित खाद्य-वस्तु में पाये जाते हैं, और शारीरिक विकास में, वे प्रधान कारक होते हैं। संक्षिप्त जानकारी हेतु निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है-
(1) कार्बोहाइड्रेट हेतु चावल, गेहुँ, आलू आदि उपयुक्त भोज्य पदार्थ हैं।
(2) वसा (चर्बी) फेट हेतु मक्खन, घी, बादाम, गिरी आदि सेवन-योग्य है।
(3) प्रोटीन के लिए दूध, दालें और अण्डा उपयुक्त।
(4) नमक, हरी तरकारियाँ तथा फलों से प्राप्त किए जा सकते है।
(5) खनिज लवण भी विभिन्न शाक-भाजी एवं फलों में उपलब्ध होते है।
*(6) विटामिन संख्या में पाँच प्रकार के होते है- जिन्हें ए,बी,सी,डी, तथा ई विटामिनों के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक विटामिन की पृथक-पृथक प्राप्ति के लिए विभिन्न वस्तुओं का सेवन आवश्यक है, तथा विटामिन 'ए' दूध-मक्खन तथा गाजर आदि से, विटामिन बी गेहूँ, अण्डा, मटर आदि से विटामिन 'सी', नीबू, संतरा, हरी तरकारियाँ एव फलों से, विटामिन 'डी' दूध, मछली आदि से प्राप्त होते है।

---

* शिक्षा के समाज शास्त्रीय आधार-डां0 सरयूप्रसाद चौबे पृ0 सं0 228

*परिवार का उत्तरदायित्व है, कि उपरोक्त पदार्थों से संयुक्त संतुलित भोजन बालक को उपलब्ध कराये। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है,कि हम अपने बच्चों को संतुलित भोजन उपलब्ध नहीं करा पाते है। और हमारे 85 से 90 प्रतिशत तक बच्चे कुपोषण के शिकार हो जाते है। हमारे देश के लगभग 11 करोड़ बच्चों को सामान्य भोजन की सुविधायें अनुपलब्ध है। इन्हीं बच्चों को कालाजार, पोलियों, विकलांगता का शिकार होना पड़ता हैं विटामिन 'ए' के आभाव में लगभग 15 हजार बच्चे अन्धे हो जाते हैं। 14 प्रतिशत बच्चे एक वर्ष की आयु के भीतर, 40 प्रतिशत बच्चे चार वर्ष की आयु तक, काल-कवलित हो जाते है। जो चिन्त्य है।

शारीरिक-विकास के लिए भोजन के बाद दूसरी आवश्यकता उसे पचाने के लिए खेल-कूद और व्यायाम की है। बच्चों के विकास, खेलकूद, मनोरंजन एवं व्यायाम आदि के माध्यम से सुगमता से प्राप्त किए जा सकते है। हम देखते हैं, कि जिन परिवारों के बच्चों के लिए खेल-कूद के उचित अवसर प्रदान नहीं किए जाते, वे हीन-व्यक्तित्व के और कुण्ठा-ग्रस्त हो जाते हैं और उनमें Frustration के भाव पनप जाते है, जिसके कारण उनकें व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता। शैशव-काल में बच्चों को आकर्षकं खिलौने उपलब्ध कराना परिवार का ही उत्तरदायित्व होता है। मात्र खिलौने उपलब्ध करा देना ही, पर्याप्त नहीं है, वरन् परिवारजनों को बच्चों के खेल में भाग लेना और उन्हें आनन्दित करना भी आवश्यक है। बच्चों के छोट-छोटे खेलों का माखौल उड़ाना उनके लिए हानिकारक होता है। और उनमें हीनता के भाव Inferiarity Complex बन जाते है।

शारीरिक विकास में कभी-कभी घातक रोगों का प्रहार भी वाधक बनता है, इस हेतु उन्हें चिकित्सीय-सुविधा भी उपलब्ध कराना, परिवार का ही उत्तरदायित्व है।

इस प्रकार हम देखते है कि बालक के शारीरिक-विकास हेतु संतुलित-भोंजन, व्यायाम एवं खेल-कूद, मनोरंजन एवं चिकित्सीय सुविधाओं को सुलभ कराने का कार्य परिवार ही कर सकता है। जो परिवार इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह सफलता पूर्वक कर लेते हैं, उनके बच्चों में कोई शारीदिक विकृति नहीं आ पाती, और उनका शारीरिक-विकास आदर्श रुप में सम्भव होता है।

---

*साहित्य-परिचय-बाल समस्या विशेषांक पृ0सं0 29 सामाजिक एवं शासकीय दायित्व डां0 नत्थन सिंह, प्रवक्ता जनता-वैदिक कॉलेज, बड़ौत-मेरठ

बालकों के संवेगात्मक-विकास में परिवार का योगदान-

संवेग मानव जीवन के विकास का एक महत्वपूर्ण पहलू है। बिना संवेगात्मक-व्यवहार के जीवन नीरस और व्यक्तित्व सपाट और अरुचिकर हो जाता है। संवेग-प्रेरित कार्य, बालक को आनन्द की अनुभूति कराते है, और कभी-कभी उसे दयनीय स्थिति में भी डाल देते हैं। अतः परिवार का उत्तरदायित्व है कि, वे बालक में विधेयात्मक संवेगों का सम्वर्धन करे और निषेधात्मक संवेगों को प्रबल न होने दें। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नरसील्ड (1954) ने मत व्यक्त किया है-

*"There is something emotionally satisfying about being loved and there also is something very practical about it"

बाल-विकास हेतु हमें उनके संवेगो की विशेषताओं को समझना और तदनुसार अपने व्यवहार और आचरणों में परिवर्तन करना आवश्यक होता है। बाल्यावस्था को संवेगात्मक विशेषताओं का अध्ययन जापान के प्रसिद्ध शिक्षा विद एवं मनोवैज्ञानिक एलिजा वी० हरलॉक ने किया और निम्नलिखित विशेषताये निरूपित की-

(1) बालकों के संवेग संक्षिप्त होते है।
(2) बालकों के संवेग गहन होते है।
(3) बालकों के संवेग क्षणिक होते है।
(4) बालकों के संवेगों की प्रायः पुनरावृत्तियाँ होती रहती है।
(5) बालकों की संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं।
(6) संवेगों की शक्ति में परिवर्तन होते रहते है।**

बाल्यावस्था में सात प्रकार के संवेग बालक के विकास को प्रभावित करते हैं, वे निम्नांकित हैं-

(1) भय।
(2) चिन्ता।
(3) क्रोध।
(4) ईर्ष्या।
(5) खुशी या आनन्द।
(6) प्रेम।
(7) उत्सुकता।

---

* Emotional Development (1954) By T. Jessild

** The Child Development " Koga Kusha Company Ltd. Tokyo, Japan 1956 Page no. 222-225

(1) भय-

एक वर्ष की आयु पूरी करने पर बालक में भय का विकास होता है, जो आयु के साथ बढ़ता जाता हैं। यह संवेग बालक को खतरों से बचाने में सहयोगी होता है, किन्तु अनावश्यक भय बालक को भीरू और कायर बना देता है। परिवार का कार्य भय के सदुपयोग करने का और उसे खतरों से बचाने के लिए होना चाहिए। अनावश्यक भय से बालक को बचानें का कार्य भी परिवार को ही है।

(2) चिन्ता-

यह भय का एक काल्पनिक रूप है, जो बालक के पर्यावरण में ही जन्म लेता है। यह सोचने या चिन्तन की आदत से भी पैदा होती है। छोटे-बालक की वैयक्तिक भिन्नता के कारण भी होती है। परिवार का कार्य है वह बालक को चिन्ता मुक्त रखे, क्योंकि चिन्ता को विद्धानों ने चिता से भी भयंकर निरूपित किया है-

*
''चिन्ता-चिता द्वयोर्मध्ये, चिन्ता चैव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता दहति सजीव कम्।।''

(3) क्रोध-

क्रोध एक तीव्र संवेगात्मक स्थिति है। क्रोध और भय में भी एक सम्बन्ध है। बाल्यावस्था में, प्रारम्भ में, भय अधिक होता है, क्रोध कम। लेकिन आयु बढ़ने के साथ-साथ भय कम होने लगता है, क्रोध बढ़ने लगता है। क्रोध कभी-कभी बालक के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। वह साहसिक कार्य करने की क्षमता प्रदान करता है, बालक के तेजस्विता को उद्घाटित करता है, अप्रिय को नष्ट या दूर करने की शक्ति बालकों में सृजित करता है।

(4) ईर्ष्या-

यह क्रोध और स्नेह से सम्बन्धित संवेग है। जब बालक अपनी उपेक्षा और उन्य को स्नेह भाजन होता हुआ देखता है, तो अपना विरोध और विद्रोह व्यक्त करने के लिए उसे ईर्ष्या का आश्रय लेना पड़ता है। भेद-भाव वाली नीति के विरूद्ध उसका प्रतिकार ईर्ष्या में होता है। परिवार जनों को इस बात का ध्यांन रखना चाहिए कि वे बालकों को ऐसे भेद-भाव के उदाहरण पेश न करें। जिसके कारण बालक में ईर्ष्या जन्य विकृति पैदा हो । प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता के भाव को, ईर्ष्या के स्थान पर विकसित करना परिवार का कार्य

---

* बच्चों का विकास किस के द्वारा एवं कैसे ?-लेखक राजेश्वर उपाध्याय, रीडर बी0 एच0 यू0 साहित्य परिचय पृ0सं0 141

है।

(5) आनन्द या खुशी–

बालक में यह संवेग धनात्मक प्रवृति का होता है। किसी की सफलता से उपजी हुई भावना ही सुखानिभूति प्रदान करती है। इस संवेग की अभिव्यक्ति बालक मुस्कुराहट या हँसी से करता है। आनन्द की अनुभूति सन्तुष्टि से होती है, जो व्यक्तित्व विकास का ठोस आधार प्रस्तुत करती है।

(6) प्रेम–

बालक अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले से सहज रूप में प्यार करने लगता है। इसी लिए बच्चों को सबसे अधिक प्रेम अपनी माँ से होता है। परिवार से निकल कर जब वह पाठ्शाला जाता है, तो उसके प्रेम–क्षेत्र का विस्तार होता है। और वह अपने निकट तम सहयोगी को प्रेम करने लगता है। आयु बढ़ने के साथ ही साथ उसकी प्रेम परिधि में विस्तार परक परिवर्तन होते जाते है। परिवार का कार्य है कि, बालक की प्रेम–परिधि को परिवार, विद्यालय, मुहल्ला, नगर, प्रदेश, देश और मनवता के स्तर तक विस्तृत करने में सहायक हो।

(7) उत्सुकता–

प्रत्येक बालक में नई–नई चीजों के प्रति उत्सुकता या जिज्ञासा होती है। और उस जिज्ञासा के समाधान से उनका ज्ञान–कोष बढ़ता है। अतः परिवार के सदस्यों को चाहिए कि बालक की प्रत्येक जिज्ञासा का ठीक–ठीक समाधान, वे करें। हर जिज्ञासा के लिए बालक को डाँटना–डपटना उसके विकास को क्षति पहुँचाता है। अतः परिवार वालों को जिज्ञासा पूर्ण परिस्थितियों का सृजन भी करना चाहिए, और बालकों की जिज्ञासा को संतुष्ट भी करना चाहिए। बालकों के विभिन्न प्रश्नों के जवाब भी पूर्णता से देना बालकों के विकास हेतु अत्यन्त आवश्यक होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालकों के विकास में सात संवेग कितनी महत्व पूर्ण भूमिका रखते है, और परिवार जन, उन संवेगो को विधेयात्मक स्वरूप किस तरह प्रदान कर, बालकों को विकास को इच्छित एवं अनुकूल साँचे में ढाल देते है।

जिस बालक का संवेगात्मक–विकास यथा वांछित विधि से होता है, उस बालक का व्यवहार उन्नत, स्वस्थ्य, उत्तम और मानसिक विकास श्रेष्ठ होता है। वह अधिक कार्यक्षम एवं सामाजिक जीवन में अधिक सफल सिद्ध होता है।

बालक का बौद्धिक-विकास में परिवार का योगदान-

परिवार के शैक्षिक स्तर का बालक के मानसिक-विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। क्योंकि बालक को अपने ही परिवार में उच्चस्तर का बौद्धिक वातावरण प्राप्त हो जाता है। परिवार में प्रयुक्त शुद्ध और स्तरीय भाषा, परिवार के उदार और उन्नत विचार-विनिमय, व्यावहारिक शिष्टता और शालीनता, स्नेहपूर्ण आत्मीयता आदि बातों से सम्पन्न परिवार में बालक के मानसिक-विकास की दिशा और दशा अपने परिवारिक वातावरण के अनुकूल होती है। ऐसे परिवारों में बच्चों की कभी उपेक्षा नहीं की जाती, उनके लिए वॉछित अच्छे साहित्य का प्रबंध किया जाता है। और इस प्रकार बालकों का यथा वॉछित विकास सम्भव होता है।

बालकों के मानसिक विकास के लिए निम्न लिखित दो आधार उत्तरदायी है-

(1) परिवार में बौद्धिक वातावरण का सृजन।
(2) बालकों के स्तर का उपयोगी और मनोरंजक साहित्य की उपलब्धता।

विद्यालयों के नीरस, उबाऊ और परीक्षा-केन्द्रित वातावरण में बच्चों की रूचि अधिक नहीं लगती है, अतः या तो विद्यालय में अन्यमनस्क भाव से उपस्थित रहतें हैं, यों विद्यालय से भाग जाते हैं। विद्यालय की उपरोक्त कमियों को यदि परिवार में पूरा किया जा सके, तो बच्चों के विकास को कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। इस हेतु परिवार, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन टेप-रिर्काडों, का उपयोग और मनोरंजक पुस्तकों का प्रावधान कर दिया जावे, तो बच्चे का मानसिक विकास द्रुतगति से और रचनात्मक स्वरुप में सम्भव हो सकता है। उपरोक्त उपकर्मो से घर में उत्तम शैक्षिक एवं मनोरंजक वातावरण का सृजन सम्भव है। परिवार का ऐसा शैक्षिक एवं बौद्धिक वातावरण छात्र को अपना बौद्धिक-विकास करने के लिए उत्प्रेरित करेगा। परिवार के सभी व्यक्ति जब बौद्धिक क्रियाओं में संलग्न रहेंगे तो बालक को भी देखा-देखी बौद्धिक-क्रियायें करनी पडेगीं। क्योंकि बालक सबसे अधिक ज्ञान अनुकरण के आधार पर (Learning by immitation) सीखता हैं। माता-पिता, भाई-बहिन आदि सबको समाचार पत्र पढ़ते देख, उसके मन में भी पढ़ने की भावना जागृत होगी।

(2) उपयोगी और मंनोरजक बाल साहित्य की उपलब्धता से भी बालकों के मानसिक विकास को भूर्त रूप दिया जा सकता है। बालकों को कहानी का बड़ा शौक होता है, यदि घर पर बाल कहानियों के संग्रह, हितोंपदेश की कथायें, पंचतंत्र की कहानियाँ तथा अन्य ज्ञानवर्धक एवं मनोरंजक पाठ्य सामग्री यदि बालको को उपलब्ध करा दी जावे, तो वे बडे चाव और आनन्द के साथ उक्त सहित्य का अध्ययन कर सकेगें और अनापेक्षित, गंदा और जासूसी-सहित्य जो अपराध परक घटनाओं पर आधारित होता है उस से दूर रह अच्छी मानसिकता को पनपा सकेगें।

अतः बालकों में बौद्धिक-विकास हेतु परिवार को बौद्धिक वातावरण का

सृजन और सद्साहित्य की उपलब्धता सुनिश्चित करना होगा। जो परिवार का परम् दायित्व हैं।

बालकों का सांस्कृतिक विकास और परिवार का योगदान–

हमारी संस्कृति एक समृद्ध संस्कृति है जिसमें संगीत, साहित्य, कला, अध्यात्म आदि का समन्वय किया गया है। और संस्कारों की स्थापनायें की गई है। नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरत मुनि ने मनुष्य और पशु के बीच अन्तर–रेखा खींचते हुए मनुष्य के गुण उद्घोषित किए है–

*संगीत साहित्य कला–विहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः।

सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन जी का कथन हैः

"शारीरिक–विकास और बौद्धिक स्फूर्ति आध्यात्मिक शिक्षा के अभाव में घातक सिद्ध हो सकती है।"

संस्कृति के आधार संस्कार होते है। जिनका निर्माण बाल्य–काल में ही सुगमता से सम्भव है। बाल्यकाल में आँकी गई आदते शीघ्र समाप्त नहीं होती। अच्छी आदतों के समूह का नाम ही चरित्र है। अतः सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए अच्छी आदतों का विकास बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

बालकों के सांस्कृतिक विकास के लिए परिवारजनों को अपना आचरण ही आदर्श बनाना होगा। पहिले ही कहा जा चुका है, कि बालक अनुकरण से सीखता है। इस स्थिति में क्या झूठ बोलने वाले माता–पिता बालक को सत्यवादी बनने की शिक्षा दे सकेगें? धूस लेने वाला परिवार क्या बच्चे को ईमानदारी के संस्कार प्रदान कर सकता है? प्रमादी पिता क्या बच्चे को समय का सदुपयोग करने की शिक्षा दे सकता है?

अतः बालकों को सांस्कृतिक विरासत प्रदान करने हेतु परिवार वालों को अपना आचरण भी आदर्श बनाना होगा, तभी बच्चों में भव्यता के भाव भरे जा सकते है। बडों का आदर सम्मान, वृद्ध–सेवा और उनके प्रति विनयशील व्यक्ति को ही आयु, विद्या, बल और यश की प्रप्तियाँ हो सकती हैं अन्य का नहीं।

नीति वाक्य है–

**"अभिवादन शीलस्य नित्य वृद्धोप सेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आर्युविद्या यशोबलम्"**

---

*नाट्य शास्त्र –भरत मुनि

**साहित्य परिचय –पृष्ठ संख्या 153

(अ)'परिवार : शिक्षा संस्था के रूप में'-

परिवार बालकों के पालन-पोषण करने वाली एक संस्था मात्र ही नहीं है, वरन् बालकों की शिक्षा एवं संस्कार देने वाली उसकी प्रथम पाठशाला भी है। बालक की शिक्षा में परिवार का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है यह अमेरिका के हार्टशोर्नव में तथा पेनोस डी वार्डिस जैसे विद्वानों के विचारों से ज्ञात होता है। उनके विचार से परिवार के इस प्रभाव के 6 प्रमुख कारक है-

प्रथम- परिवार ही सर्वप्रथम संसार में बालक को प्राप्त करता है
द्वितीय-परिवार उस समय बालक को प्राप्त करता है, जब कि उसका व्यक्तित्व अत्यन्त लचीला होता है। और लचीलेपन के कारण परिवार के डाले गए प्रभाव बालक के जीवन की स्थायी निधि बन जाते हैं।
तीसरा-वाह्य विश्व में स्थापित किए सम्बन्धों की अपेक्षा परिवारिक प्रेम-सम्पर्क अधिक दृढ़ और बालक के व्यक्तित्व को मोड़ने या ढ़ालने में अधिक समर्थ होते हैं।
चौथा-परिवार के सम्पर्क अधिक समय तक स्थायी रहते हैं।
पाँचवा-वाह्य जगत में किए गए कार्यो की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य अधिक सहज, अनौपचारिक एवं सामान्य होते हैं।
छटवाँ-बालक की अधिकतम आवश्यकतायें परिवार ही पूरी करता है, अतः यह स्वाभाविक है कि बालक अपने परिवार पर ही अधिक निर्भर हो व परिवारजनों के व्यवहार का प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपों में अनुकरण करें।

इसी कारण सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री वोगार्डस् ने ठीक ही लिखा है-

*"शिक्षा परिवार में ही केन्द्रित होती है, तथा यहीं पर बालक की नैतिक शिक्षा का आधार तथा नैतिक अनुशासन की मूल नींव बनती है।"

बालक के शैक्षिक विकास में विद्यालय की भाँति ही, वरन् उससे अधिक महत्व परिवार का है। परिवार दो बच्चों को वंशानुक्रमण (Heredity) तथा पर्यावरणn (Envirment) की विशेषतायें प्रदान करता है। विद्यालय तो सभी बच्चों को एक जैसी शिक्षा (Uniformity of Education) प्रदान करता है, जो बालक की अपनी विचित्रताओं या विशिष्टताओं को विकसित नहीं होने देता, किन्तु परिवार ही एक ऐसी संस्था है जो, पारिवारिक स्तरों की भिन्नता के वातावरण में वंशानुगत विशिष्ट तन्त्रो को विकसित करने के सभी उपकरण और परिस्थितियाँ प्रदान करता है। और इस प्रकार विद्यालयीय वातावरण में एक जैसी शिक्षा पद्धति के कारण व्यक्ति के वैशिष्टय का प्रस्फुटन के अवसरो के अभावों की पूर्ति, परिवार में ही होती है।

परिवार वह साँचा (Matrix) है, जिसमें बालक के व्यक्तित्व का मूल रूप में जन्म होता है। बचपन के संस्कार केवल बचपन के दिनों तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि बालक की संम्पूर्ण जीवन अवधि तक स्थायी रहते हैं।

---

* भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र-सत्यपाल सहेला पृ0सं0 157

डा0 लारेन्स के0 फ्रेंक का विचार है-

*"प्रारम्भिक पारिवारिक प्रभाव एवं सम्पर्क व्यक्ति के प्रौढ़ जीवन में भी संचरित रहते है, तथा उसके स्थायी जीवन-सहचर बन जाते है।"**

बालक के व्यक्तित्व-विकास में परिवार का महत्वपूर्ण स्थान है। बालक का विकास तभी ठीक से सम्भव है जब, स्कूल के कार्यो में माता-पिता भी अध्यापकों के निर्देशों को क्रियान्वित करें। बालक के अन्दर गुणों और दुर्गुणों के संस्कार परिवार में पड़ते है। सच बोलना, चोरी न करना, उदार रहना आदि जीवन में अपनाने वाली बातों तथा झूठ बोलना, आलस्य, स्वार्थ-वृत्ति आदि दुर्गुणों के पीछे परिवार की ही पृष्ठभूमि होती है।

दूसरे वचनों में स्कूल में पहुँचाने से पूर्व बालक पर सामान्यतः सभी मनोवैज्ञानिक संस्कार पड़ चुके होते है। वह कोरा कागज मात्र नहीं होता। बालक में तो गुणों और दोषों को कसौटी पर कसने की क्षमता पहले से ही विद्यमान होती है। इसी क्षमता की सहायता से वह अनेक प्रकार की उत्तेजनाओं (Stimuli) के प्रति अपनी प्रतिक्रिया (Reactions) व्यक्त करता है। एक प्रकार से सीखने की क्रिया (Learning Process) बालक की प्रतिक्रियाओं पर निर्भर रहती है।

बालक के प्रारम्भिक पाँच छः वर्ष के समय की शिक्षा पारिवारिक वातावरण में ही होना चाहिए। किन्तु आजकल किण्डरगार्टन मोन्टेसरी तथा शिशु मंदिरों में तीन वर्षीय शिशुओं को भी प्रवेश दिया जाने लगा है। धनी और सम्पन्न व्यक्ति अपने शिशुओं को ऐसे विद्यालयों में प्रविष्ट भी करा देते है, किन्तु प्रश्न यह है, कि क्या ऐसे विद्यालय शिशुओं को वह वातावरण उपलब्ध कराने में सक्षम है, जो वातावरण बालकों को अपने माता-पिता के सान्निध्य में प्राप्त होता है? क्या विद्यालय में शिशुओं की त्रुटियों के प्रति सहानुभूति और ममत्व प्रदर्शित किया जाता है? क्योंकि शिशुओं से प्रत्येक कार्य में त्रुटियां होना स्वाभाविक है। शिशुओं की सहज क्रियाओं को खुलकर प्रदिर्शित करने का मौका शिशुओं को प्राप्त होता है, यदि नहीं, तो इस आयु-वर्ग के बच्चों को विद्यालय भेजना, उनके साथ अन्याय करना है।

यदि उपरोक्त विद्यालय, अपने परिसर में परिवारिक सहानुभूति,मानव सेवा और संशोधन की व्यवस्था कर सकते हों, और विद्यालय में पारिवारिक वातावरण का सृजन करनें में सक्षम हो, तो शिशुओं को विद्यालय भेजना ठीक है, अन्यथा परिवार जनों द्वारा ही परिवार में शिशु-शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

भारत जैसे विकासशील देश में परिवारों की निर्धनता सामान्य हैं। ये परिवार अपने शिशुओं की शिक्षा पर आने वाले भारी-भरकम आर्थिक बोझ को उठाने में समर्थ नहीं, अतः सामान्यतः शिशुओं को पाँच-छह वर्ष की आयु तक परिवार में ही शिक्षित-संस्कारित करना उचित है।

---

* शिक्षा में निर्देशन और परामर्श डॉ0 सीताराम जयसवाल पृ0 101

परिवारो में शिक्षा सम्बन्धी सुविधा कितनी उपलब्ध है? यह भी विचारणीय है। भारत के अधिकतम परिवारों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर है कि वे अपने बालकों के लिए न तो घर में उपयुक्त फर्नीचर, पुस्तकें, खेलकूद के साधन, यन्त्र, मानचित्र, चित्र-संग्रह एवं अन्य पाठ्य सहायक सामग्री का क्रय कर सकते है, और न घरों में उचित शिक्षा वातावरण बना सकते है। साथ ही न वे पाठशाला के अध्यापकों द्वारा नित नई मंगाई जाने वाली विविध प्रकार की स्टेशनरी, खेल-कूद, भ्रमण, पुस्तकालय, दान आदि से जुड़े शुल्क तथा अन्य व्यय-भार ही बहन कर सकते है। इस का परिणाम यह होता है, कि एक ओर तो घर में बालकों में शैक्षिक रूचि उत्पन्न नहीं हो पाती, और दूसरी ओर बालकों को विद्यालयों में प्रचलित सामाजिक अन्यायों तथा अकर्षित करने वाली प्रवृतियों से नहीं बचाया जा सकता। बालक दोनों ओर से कठिनाइयों से त्रस्त रहते है।

बालकों की देखभाल परिवार में प्रायः मातायें करती है। किन्तु आज के बदलते हुए सामाजिक आर्थिक परिवेश में अधिकतर मातायें भी पुरूषों की भाँति नौकरियां करने लगी हैं, ऐसी स्थिति में बालक माँ-बाप के संरक्षण से विहीन हो रहे हैं। इसी स्थिति को लक्ष्य कर श्री एस0एन0 मुकर्जी ने लिखा है-

*"Child care should not be confired to mothers only, Father have an equally important role. Sweden has started 'Father come home compaign"**

परिवार को प्रथम शिक्षाणालय बताते हुए प्रसिद्ध शिक्षा विद् श्री मधुसूदन पारिख, वरिष्ठ प्रवक्ता, श्री महेश शिक्षा-सदन भील बाड़ा ने अपने एक निवंध 'बालकों के सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्तियों के कर्तव्य' में लिखा है-

** " मेरे विचार से परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जहाँ औपचारिक शिक्षण के स्थान पर, दिखाते के स्थान पर बन्धन युक्त शिक्षण-जिसमें छात्र और अध्यापक बंधे रहते है,- के स्थान पर बालक औपचारिक और बन्धन मुक्त शिक्षा प्राप्त करता है।"

- - - बालक,हम और आप से अधिक जागरूक, जिज्ञासु और निर्मल-चित्त का है। उसके चित्त की निर्मलता को मलिनता में न बदलें।

(ब) विद्यालयीय वातावरण को परिवार तुल्य बनाना-

परिवार के लाड़, प्यार भरे, ममत्व और स्नेह के बंधनो को तोड़, जब उसे विद्यालय लाया जाता है, तो बालक विचित्र द्विविधा में पड़ जाता है। विद्यालय का कठोर अनुशासन, सभी छात्रों को एक रूप पाठ्यक्रम (Uniforomed Sylabus) अध्यापक का रौब-पूर्ण आतंक और अन्य अपरिचित

---

* Education in India: Today Tomorrow (Page 149)

** साहित्य परिचय बाल-विशेषांक पृ0सं0 145,160
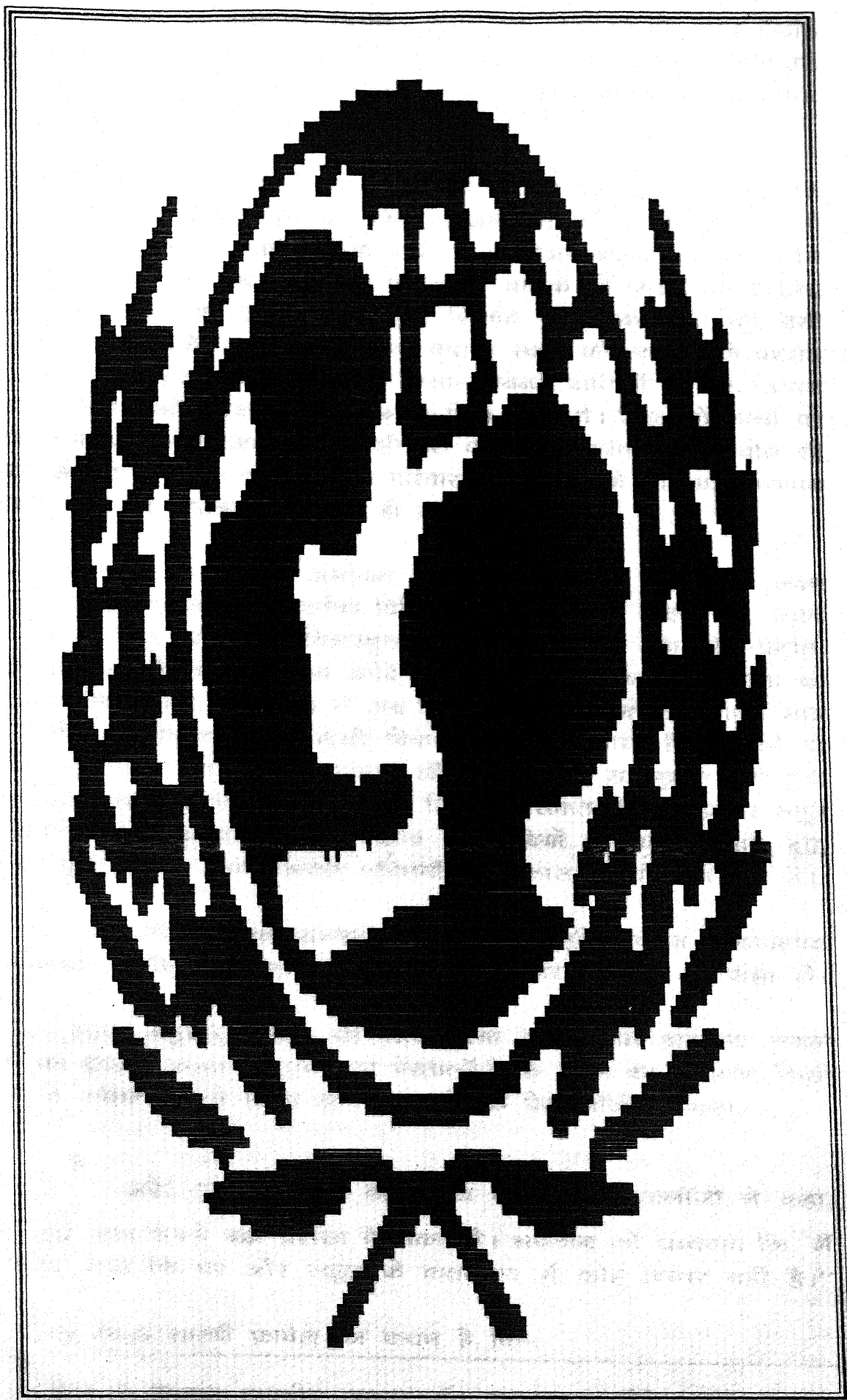
बच्चों से सामन्जस्य की स्थापना, निश्चित समय तक विद्यालय की चाहर दीवारी में घिरा रहना, बालक को असहज और कष्टकारी प्रतीत होने लगता है, और उसे अपने घर-परिवार की याद सताने लगती है। कभी-कभी बच्चा स्कूल के उबाऊ वातावरण से मुक्ति पाने के लिए घर से भाग भी जाता है।

वास्तव में सभ्यता के प्रथम चरण में व्यक्ति की शिक्षा अनौपचारिक रूप में परिवार में ही दी जाती है। किन्तु लेखनकला के विकास के साथ ही शिक्षा स्वरूप कठिन और जटिल होता गया और परिवार बालक की शिक्षा देने के भार को उठाने में समर्थ नहीं रहा। परिणामतः बालक को शिक्षा देने के लिए परिवार को शिक्षक की आवश्यकता हुई। शिक्षक की आवश्यकता की इसी अनुभुति ने, शनैः-शनैः स्कूल की स्थापना कराई। स्कूल की स्थापना के पश्चात् स्कूल का कर्तव्य बालक को, उन सभी शिक्षा-सम्बन्धी दायित्वों का भार उठाना हो गया, जिन्हें कभी परिवार व उनके माता-पिता उठाते थे। स्कूल के कन्धों पर परिवार सम्बन्धी दायित्व आ जाने पर भी उसे कुटुम्ब या परिवार के सहयोग की निरन्तर अपेक्षा रहती है। क्योंकि बिना परिवार के सहयोग के शिक्षक, अध्यापन सम्बन्धी कार्य को सफलतापूर्वक कर ही नहीं सकते।

विद्यालय के क्षेत्र के अर्न्तगत बालक का सर्वांगीण विकास ही लक्ष्य होता है। पहले विद्यालयों का कर्तव्य विविध-विषयों का ज्ञान बालक को प्रदान करना था, किन्तु परिवर्तित विचारनुसार अब बालक की शारीरिक-प्रगति, बौद्धिक-विकास और चरित्र-उत्थान आदि सभी पक्षों को विद्यालयीय शिक्षा का लक्ष्य मान लिया गया है। वास्तव में अब विद्यालय का कार्य क्षेत्र अध्यायन मात्र नहीं, अपितु बालक का सर्वतोन्मुखी विकास करना हो गया है। बालकों के विकास हेतु उनकी रूचियों का अध्ययन और उनके प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टि कोण (Sympatiatic Outlook) रख कर ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्कूल का प्रधान कर्तव्य अथवा उद्देश्य बालक की रूचियों पर ध्यान रखते हुए, वात्सल्य पूर्ण ढंग से उसकी अनेक शक्तियों के विकास में योगदान देना है।

किसी की रूचि को समझने के लिए सहानुभूमि-प्रदर्शन अत्यावश्यक है। सम्भवतः इसीलिए पेस्तालॉजी ने स्कूल को 'प्यार का घर' की संज्ञा दी।

उनके अनुसार बालक को शिक्षा देना उसके प्रति वात्सल्य अथवा ममता का प्रदर्शन करना है। एक बार पेस्तालॉजी के स्कूल का निरीक्षण किसी बालक के अभिभावक ने किया और आश्चर्यपूर्वक पेस्तालॉजी से कहा-

* " अरे! यह तो स्कूल नहीं, एक घर है।" पेस्तालॉजी ने कहा, "यही मुझे आप सबसे बड़ी प्रशंसा दे सकते है। भगवान को धन्यवाद कि, मैं यह दिखा सका कि घर और स्कूल के वातावरण में कोई अन्तर नहीं है।"

प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री फ्रावेल का कथन है कि-

---

* शिक्षा के सामाज शास्त्रीय आधार डॉ0 सरयूप्रसाद चौबे पृ0सं0 199

"स्कूल ऐसा हो, कि बालक वहाँ पर वैसे ही प्रसन्नचित हो कर जाये, जैसे वह खेल के मैदान में जाता है।"

वर्तमान समय में विद्यालय के स्वरूप विकृत और लक्ष्य भ्रष्ट हो गए हैं। वे पेस्तालॉजी और फ्रावेल महोदय की कल्पनाओं के विपरीत बन्दीगृह की तरह क्रूर और शोषण के केन्द्र बन गए है। हम यहाँ अति संक्षेप में स्कूलों की वर्तमान दुर्दशा का उल्लेख करना आवश्यक समझते है। विद्यालयों में निम्नलिखित दोष व्याप्त है-

(1) विद्यालय में अध्यापक का आतंक-सा बालकों पर छाया रहता है। यह आतंक शिक्षक की अधिक वय का, उसके रौव-दौव का, उसके शान-शौकत भरे वेशभूषा और उसके ज्ञान और व्यक्तित्व के आतंक के रूप में रहता है। कक्षा में अनुशासन के नाम पर बच्चों को बलात् घेरे रखना उनके कोमल-चित्त के प्रति घोर अन्याय है।

(2) छात्रों में धनी-निर्धन, उच्च जाति, नीची जाति, शिक्षित परिवार-अशिक्षित परिवार तथा इसी प्रकार के अन्य विभेदों के आधार पर, भेद-भाव पूर्ण व्यवहार किया जाता हैं। साधन-सम्पन्न बच्चों को प्रोत्साहन और साधनहीन बच्चों को हतोत्साहित करने की प्रवृत्ति से लगभग सभी विद्यालय ग्रस्त है।

(3) <u>विद्यार्थियों का शोषण</u>-

विद्यालयों में शिक्षकों का स्तर अत्यन्त निम्नस्तर का हो गया है, वे कक्षा में परिश्रम से नहीं पढ़ाते और छात्रों को विवश करते है, कि वे ट्यूशन पर आये। और उनकी जेबे भरें। धनी बच्चों को ट्यूशन में पढ़ाने के कारण कक्षा में उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने में भी अध्यापक नहीं चूकते। वास्तव में योग्य छात्रों को द्वेष वश कम अंक प्रदान कर भ्रष्टाचार का नंगा नाच दिखाते है। ऐसे अध्यापकों पर न तो विद्यालय प्रशासन नियंत्रण कर पाता है, न सरकारी विभाग ही।

(4) विद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक, सामाजिक, मनोरंजक, खेलकूद और अन्य प्रतियोगितात्मक कार्यक्रमों का अभाव हो गया है। कारण यह है कि विद्यालय-समय के अतिरिक्त कोई भी अध्यापक इन कार्यो को अपना सामाजिक दायित्व नहीं मानता। अतः इन क्रिया-कलापों से विलग रहकर धनार्जन के अन्य उपक्रमों में व्यस्त रहता है।

(5) महत्वाकांक्षी पाठ्य-क्रम और बस्तों का बोझ छात्रों की क्षमता से परे होता है। अतः प्रायः छात्र या तो घर से स्कूल आते ही नहीं है, या घण्टे पार करते है, या विद्यालय में अव्यवस्था फैलाते हैं।

भारत का दुर्भाग्य है कि आवश्यकता महसूस करने पर भी, अभी तक हम शिक्षा का कोई सुव्यवस्थित स्वरूप उपस्थित नहीं कर पाये है। यूरोपीय देशों ने तो प्रथम महायुद्ध के बाद अपन-अपने देशों की शिक्षा सुधार के प्रयत्न किए।

सन् 1917 की रूसी जन क्रांति और द्वितीय महायुद्ध के बाद शिक्षाविदों ने शिक्षा के संवेगात्मक (Emotional) शारीरिक (Physical) और बौद्धिक (Intellectual) पर अधिक ध्यान दिया। वास्तव में स्कूल एक ऐसा स्थान है, जहाँ व्यक्ति को व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी प्रकार के संस्कार दिए जा सकते है।

स्कूल ही ऐसा स्थान है, जो बालक को उसके आस-पड़ौस तथा परिवार के खराव वातावरण से दूर रखता है, स्कूल जाये बिना बालक का व्यक्ति-विकास एकांगी और एक पक्षीय हो जाता है। वस्तुतः स्कूल जाने से बालक को तरह-तरह का अनुभव प्राप्त होता है, जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

विद्यालय और परिवार दोनों ही संस्थाओं का उद्‌देश्य बालक का सर्वांगींण विकास है। इसीलिए जब दोनों संस्थायें एक ही लक्ष्य के प्रति गतिशील हैं, तो यह आवश्यक है कि दोनों को एक दूसरे के निकट लाया जाये। परिवार में विद्यालयीय अनुशासन एवं स्कूली क्रिया-कलायें, गृहकार्य की पूर्ति, आगामी पाठ की पूर्व तैयारी, विद्यालय में आयोजित होने वाले उत्संवों, प्रतियोगिता, नाटक और प्रदर्शनी आदि की तैयारी कराने, विद्यालय वेशभूषा की सफाई आदि तथा कापियों-किताबों की सुरक्षा हेतु प्रयत्न करने से छात्र को घर-परिवार में ही विघालयीय वातावरण सुलभ हो जाता है।

इसी प्रकार विद्यालय में पारिवारिक वातावरण बनाने के लिए निम्नांकित उपाय किए जा सकते है-

(1) Visiting Teachers की व्यवस्था-

यह व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रचलित है। जो बच्चे विद्यालय में भयभीत रहते है, अध्ययन में मन नहीं लगाते हैं, विद्यालय से अनुपस्थित रहते हैं या उपस्थिति देकर भाग जाते है। विद्यालय विलम्ब से आते है। विद्यालय के अनुशासन की समस्या खड़ी करते हैं।

उन छात्रों के घरों पर ये Visiting teachers जाते हैं, उनकी समस्याओं का आकलन परिवार के सदस्यों के माध्यम से, पड़ौसियों के माध्यम से, छात्रों के संगी-साथियों, साथी खिलाडियों के माध्यम से, पडौसियों के माध्यम से, छात्रों के संगी-साथियों, साथी खिलाडियों के माध्यम से करता है, और सबसे मिलकर, सबका सहयोग प्राप्त कर बच्चे की समस्या का समाधान करता है। परिवार की बात विद्यालय को और विद्यालय की बात परिवार वालों को बताकर छात्र असामान्य व्यवहार को सामान्य बनाता है। इस प्रकार परिवार और विद्यालय दोनों निकट आ जाते है और छात्र की समस्या दोनों के सहयोग से हल हो जाती है। इस प्रकार Visiting teachers विद्यालय में परिवार जैसा वातावरण बनाने में समर्थ होता है।

कुमारी विलमावाकर इन Visiting teachers के बारे में बताती हुई कहती है–

*" ---------the work of the visiting teacher has been case work with those children, who for same unknown reason or for eanses not understood by the teacher and school administration, are failing to benefit to their fullest capacity from the school experience-------"

(2) विद्यालय कार्यकारिणी में आयु और अनुभवी व्यक्तियों को सदस्य बनाना।

(3) विद्यालय में अध्यापक अभिभावक–संघ की स्थापना करना। जिसमें बालक के माता–पिता भी सदस्य बनायें जावें। और समय–समय पर विद्यालय बुलाया जावें। इससे एक ओर तो माता–पिता विद्यालय के क्रिया–कलापों पर ध्यान देने लगेंगे, तो दूसरी ओर बालकों को अपने माता–पिता के आने जाने से सुरक्षा–भाव एवं विद्यालय के प्रति आत्मिक एवं पारिवारिक भाव विकसित होंगें।

(4) विद्यालय में आयोजित उत्सवों में माता–पिता को आमंत्रित कर उनका सक्रिय सहयोग अर्जित करना।

(5) विद्यालय में महापुरूषों के जन्म–दिन तथा पुण्य दिनों का आयोजन। अच्छा हो, विद्यार्थियों की विशिष्ट उपलब्धि के लिए उन्हें सम्मानित और पुरूष्कृत भी किया जावे।

(6) विद्यालय में प्रातः काल या संध्या समय कुछ न कुछ गोष्ठियों या बौद्धिक चर्चा, या मनोरंजक कार्यक्रमों का आयोजन करना। ऐसा करने से प्रौढ़ों में यह भावना आने लगेगी कि स्कूल केवल बालकों के निमित्त ही नहीं हैं, अपितु उनके किए भी है। इस प्रकार शनैः शनैः वे शिक्षकों के साहचर्य में आने लगेगें।

(7) विद्यालय में Fathers - day (पितृ–दिवस), Mothers day (मातृ–दिवस), पुरातन–छात्रदिवस (old students day) आदि के आयोजन भी, विद्यालय में पारिवारिक और सामाजिकता का वातावरण बना सकते हैं।

इस प्रकार हम देखतें हैं कि विद्यालय को पारिवारिक वातावरण प्रदान कर बालकों के लिए अधिक रोचक, अधिक उपयोगी, और अधिक विकासशील स्वरूप दिया जा सकता है। विद्यालय के साथ पारिवारिकता जुड़ जाने से बालक विद्यालय को अपना समझने लगता है। विद्यालय की प्रतिष्ठा और सम्मान वह उसी निष्ठा से करने लगता है, जिस निष्ठा से वह अपने परिवार और परिवारजनों को देखता है।

*शिक्षा में, निर्देशक और परामर्श–डा. सीताराम जायसवाल पेज सं. 337

(स)“पारिवारिक संस्कृति और उसकी शिक्षा”–

परिवार से हमारा तात्पर्य उन माता–पिता, भाई–बहिन, चाचा–चाची, ताऊ आदि सगे सम्बन्धियों से है, जिनके मध्य बालक जन्म लेकर अपना बाल्यकाल व्यतीत करता है, अथवा जो बालक के बाल्य जीवन में सहायक होते हैं।

परिवार वह मानव संघ है, जो भावात्मक रूप से ऐक्य के सूत्र में बंधकर, आर्थिक, सामाजिक, भौतिक और आध्यात्मिक सहयोग और सहकारिता की भावना से संगठित, विकसित, और चिरस्थायी संगठन का रूप ले लेता है।

एक परिवार में अनेक परिवारों का योगदान भी होता रहता है। एक परिवार की लडकी जब दूसरे परिवार में बहू बन कर जाती हैं तो इस प्रकार दो परिवारों में भी भावनात्मक ऐक्य स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार जब परिवार –भावना का विकास होता रहता है। परिवारों में सामन्यता के सूत्र ही, विकास की दिशा प्रदान करते है।

प्रत्येक परिवार अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति विभिन्न पेशों को अपनाता है जैसे कुछ परिवार कृषि से जीवन यापन करते हैं, तो कुछ परिवार नौकरी को आजीविका का माध्यम बनाते है, तो कुछ राजनीति को भी जीवन का आधार बना लेते हैं। इस प्रकार विभिन्न परिवारों के परिवेश और जीवन–शैली में भिन्नता परिवारिक संस्कार के रूप में स्थापित होती है जिसे सामान्यतः हम उस परिवार की संस्कृति से सम्बोधित करने लगते हैं।

यद्यपि संस्कृति शब्द में उपरोक्त बातें ही नहीं आती, और न संस्कृति मात्र परिवेश तक ही सीमित रहती है, वरन् इस का अर्थ अतिव्यापक है, जिसके अन्तर्गत हम अपनी सभी भौतिक, आध्यात्मिक, भावनात्मक उपलब्धियों शामिल करते हैं। जीवनधारण करने के लिए हमारे जो प्रयास हैं, अथवा जीवन की सुरक्षा हेतु किए गए हमारे कार्य, सभ्यता के क्षेत्र में ही आते है, किन्तु जीवन में सौन्दर्य बोध कर उसे श्रेष्ठ बनाने के कार्य संस्कृति के अंग माने जाते हैं। जैसे–

“जिन्दा रहने के लिए भोजन करना” सभ्यता की बात है, किसी भी प्रकार क्षुधा की शान्त किया जा सकता है, हमारे पूर्वजों ने सभ्यता के युग में कच्चा माँस, फल–फूल, यहाँ तक कि पेड़ की पत्तियाँ खा कर भूख मिटाई हैं। उनके यह कार्य, सभ्यता की स्थिति को ही दर्शाता हैं, किन्तु भोजन को स्वादिष्ट, सुगन्धित और स्वास्थदायक बनाने के जो प्रयत्न किए गए है, वे सभ्यता के क्षेत्र से निकल कर संस्कृति के विषय हो गए।

संस्कृति “संस्कार” शब्द से बना है। किसी भी वस्तु को संस्कारित करने के लिये उसकी मौलिक स्थिति के विकारों को हटाने तथा उसमें अच्छी बातों का समावेश करना है। उसे संस्कारित करना कहलाता है। जैसे गेहूँ को छान–बीन और फटकने के बाद उसमें से कंकड़, मिट्‌टी तथा अन्य अवांछित चीजों को निकालना ही गेहूँ को संस्कारित करना कहलाता है।

उसी प्रकार हमारे विचार-गत, विकार, भावगत द्वेषादि, भौतिक दैन्य का निवारण और आध्यात्मिक श्रेष्ठताओं का प्रवर्धन ही हमारा संस्कार कहलायेगा।''

व्यक्ति, परिवार और समाज की आदिम प्रवृत्तियों के अवांछित अंशो की निष्कृति एवं अच्छी प्रवृत्तियों का संयोजन ही संस्कृति का सच्चा स्वरुप है। वास्तव में सभ्यता की नींव पर संस्कृति का भव्य भवन बन कर तैयार होता है। संस्कृति हमारी मानव जाति की समस्त उपलब्धियों - भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास की श्रेष्ठतम स्थितियों के संचय का नाम है। पारिवारिक-संस्कृति की विभिन्नता है-

यों तो संस्कृति सम्पूर्ण विश्व की उपलब्धियों का प्रतिफल है, किन्तु पृथक-पृथक परिवार अपने पेशे, परिवेश और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक पक्षों के अंग और उपागों को अपने हिसाब से अपना लेते हैं। और इस प्रकार परिवार विशेष की अपनी एक अलग संस्कृति निर्मित हो जाती है।

प्रायः देखा गया है कि, यदि बालक के परिवार वाले सदस्य चोर या डकैत होते है, तो बालक के पवित्र हृदय पर बचपन से ही चोरी या डकैती के संस्कार पड़ जाते है। यदि बालक के आत्मीय जन झूठ, फरेब, अत्याचार, और भ्रष्टाचार आदि में लीन रहते है, तो बालक बचपन से ही, इन कुप्रवृत्तियों का शिकार हो जाता है।

यदि बालक के सगे सम्बन्धी लोग नित्य-प्रति लड़ते झगड़ते रहते है, परस्पर गाली-गलौज, मारपीट या एक दूसरे पर दोषारोपण करते रहते है, तो बालक भी इन दुर्गुणों को बचपन से ही सीख जाता है।

उक्त के ठीक विपरीत यदि बालक के परिवार में सच्चरित्र और सदाचारी व्यक्ति होते है, तो बालक तो बालक का हृदय शुरु से ही सदाचार और सद्वृत्तियों की ओर उन्मुख हो जाता है। यदि बालक के अभिभावक राष्ट्रभक्त और देश प्रेमी होते है, तो बालक प्रारम्भ से ही राष्ट्र-प्रेम और देश-भक्ति के भावों से अनुप्राणित हो जाता है। यदि बालक के पारिवारिक जन भजन-पूजन कर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है, तो बालक भी बचपन से ही धार्मिक बातों को अपना लेता है। समाज-सेवी, परोपकारी, लोक हितकारी कुटुम्बीजनों के मध्य पोषित बालक हृदय पर बचपन से ही, इन उत्तम गुणों की नींव स्थायी रुप से पड़ जाती है, और आजीवन वह इन्हीं गुणों के अनुसार अपने आचरण करता है। बुन्देली भाषा में पारिवारिक प्रभाव को प्रकट करने वाली यह लोकोक्ति दृष्टव्य है-

---

*''जैसा जाँ के नदिया नारे, तैसें ताँके भरका।
जैसे जी के बाप मताई, तैसे तीके लरका।।''

* बुन्देल खण्डी लोकोक्ति- मामुलिया पृ0सं0 93

पारिवारिक संस्कृति की विभिन्नता के अनेक स्वरूप और अनेक आधार हो सकते है, किन्तु उन्हें संक्षेप में व्यक्त करने के लिए हम स्वरूपों में विभक्त कर सकते है। **प्रथम संयुक्त परिवार वाली संस्कृति, और द्वितीय विखण्डित परिवार वाली संस्कृति।**

प्रारम्भ में संयुक्त परिवार की व्यवस्था भारतीय समाज की आधार स्तम्भ थीं। संयुक्त परिवार में माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची, ताऊ-ताई, भाई-बहिन आदि आवाल-वृद्ध सभी संयुक्त रूप से निवास करते थे। और पारस्परिक सहयोग के आधार पर दैनिक कार्यो का स्वाभाविक बँटबारा हो जाता था। इस प्रकार के परिवार से सबसे बड़ा लाभ यह होता था, कि जब परिवार के कार्यशील सदस्य या कमाऊ व्यक्ति अपने कामों में व्यस्त होते थे, तब परिवार के वृद्धजन प्रायः दादा-दादी, बालक की देख भाल करते थे, तथा उनको स्नेह प्रदान किया करते थे। और इस प्रकार बालक को प्यार और स्नेह पूर्ण संरक्षण की कमी भी कभी महसूस नहीं होती थी, जो बालक की अनिवार्य आवश्यकता है।

आज के युग में संयुक्त प्रथा का प्रायः लोप हो गया है। और उसके स्थान पर विभाजित या विखण्डित परिवार खड़े हो गए है। इन परिवारों में बालक अपने माता-पिता के साथ रहता है, परिणाम स्वरूप जब माता और पिता आजीविका-उपार्जन के अपने-अपने कार्यो में व्यस्त हो जाते है, तो बालक अपने आपको पूर्णतः अकेला, उपेक्षित और असुरक्षित अनुभव करता है। उसे वॉछित प्यार व स्नेह नहीं मिल पाता, उसकी प्यार-स्नेह की मनौवैज्ञानिक भूख अतृप्त ही रह जाती है। यह अतृप्त भूख, बालक के व्यक्तित्व विकास पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव डालती है, उस बालक में परिवार और समाज के प्रति विद्रोही भाव विकसित कर लेती है।

वास्तव में बालक के संतुलित व्यक्तित्व के विकास में संयुक्त परिवार प्रथा एक वरदान थी। संयुक्त परिवार प्रथा के भंग होने से बालकों को न तो स्नेह ही मिल पाता है, और न उसमें सामूहिकता की भावना का विकास ही हो पाती है।

*"संयुक्त परिवार में बालक सेवा-भाव, सहानुभूति परस्पर सहयोग तथा बड़ों का आदर करना आदि सुगमता से सीख जाता था, पर वे सब बातें संयुक्त परिवार के साथ ही समाप्त होती जा रही है।"

---

* सहित्य-परिचय बाल समस्या विशेषांक में संकलित "बाल-विकास नई समस्याओं के सन्दर्भ में ले डॉ. रामपाल सिंह, जियालाल शिक्षण संस्थान, अजमेर पृ. सं. 63"

आज के इस भौतिक वादी युग में प्रत्येक व्यक्ति विभिन्न उचित-अनुचित मार्गों से भौतिक प्रगति की ओर बेतहासा भाग रहा है। इस भागम-भाग में वह अपना और अपने बच्चों का हित-अहित भी भूल चुका है। मध्यम वर्गी समाज अपनी भौतिक प्रगति, या सही कहा जावे, तो भौतिक-दिखावे के पीछे अंधा हुआ जा रहा है। वह अधिक से अधिक भौतिक साधन जुटाना चाहता है, इसके लिए पिता के साथ ही माता को भी धनोपार्जन करना पड़ता है। दोनों नौकरी पर चले जाते हैं। शाम को हारे थके वे जब घर लौटते हैं, तो माँ खाना बनाने में असमर्थ सी रहती है अतः होटल या सन्दूक का सहारा लेना पड़ता है। माँ बच्चे की दिनभर देखभाल करने के लिए आया (maid - servant) रख लेती है।

इस स्थिति में माता-पिता के संस्कारों के स्थान पर बालक के जीवन पर आया के संस्कार पड़ जाते है, बालक को अपने माता-पिता के उच्च स्तरीय संस्कारों से वंचित होना पड़ता है। आया-पोषित ये बालक निश्चय ही अपने व्यवहारों, नैतिक-मूल्यों, तथा व्यक्तित्व विकास में कभी भी संतुलित नहीं हो सकते।

संयुक्त राष्ट्रसंध ने 1958 के बाल-अधिकार धोषणा-पत्र में उल्लेख किया है।

***" man kind owes to the child, the best it has to give"**

** ''मानव जाति बालक के प्रति इस बात की ऋणी है कि वह उसको अपना सर्वोत्तम भाग प्रदान करें।''

पारिवारिक-शिक्षा-The impact of family in child education -

बालक अपने जीवन के प्रारम्भिक 6-7 वर्ष अपने परिवार में रह कर ही व्यतीत करता है इस काल में यद्यपि माता-पिता का काफी प्रभाव उस पर पड़ता है, तथापि परिवार के अन्य लोगों का भी बालक के व्यक्तित्व-विकास और उसकी शिक्षा पर गहरा प्रभाव पड़ता है। फलतः इस समय उसके व्यक्तित्व पर परिवार की सम्पूर्ण संस्कृति अर्थात् परम्पराओं रहन-सहन के ढंग इत्यादि का प्रभाव स्वाभिवक रूप से पडता ही है। इस लिए वह 6-7 वर्ष की आयु व्यतीत हो जाने पर, जब स्कूल में प्रवेश लेता है, तो वह कोरा कागज मात्र नहीं होता है। इस पर कुछ भी लिख दिया जावे, (वरन् वह अपने परिवार की पुष्ट परम्परा और पारिवारिक संस्कृति की पृष्ठ-भूमि लिए हुए होता है।) वह उसकी आगामी शिक्षा का भवन, उसी पारिवारिक संस्कृति की नींव पर निर्मित होता। शिक्षा का कार्य उसके पारिवारिक संस्कारों की श्रेष्टतम विद्या को अभिव्यक्ति प्रदान करना है।

*** From the charter of child's right by u.n. 0 1958**

** संयुक्त राष्ट्र संध के वाल-अधिकार धोषणा-पत्र 1958

श्री विवेकानन्द जी के विचारानुसार–

* "Education is the manifestation of the perfection already in the man, attaned from his family atmosphere." ——Vivekanand.

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है, कि पारिवारिक संस्कृति, बालक के व्यक्तित्व विकास की नींव है। बालक–विकास पर ही, सारे संसार का विकास निर्भर है। जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है–

**"बालक, प्रकृति की अनमोल देन है, सुन्दरतम् कृति है, सबसे निर्दोष वस्तु है। बालक मनोविज्ञान का मूल है। बालक मानव जगत् का निमार्ता है बालक के विकास पर दुनियाँ का विकास निर्भर है, बालक की सेवा ही विकास की सेवा है।"

(द)बालक के व्यक्तित्व एवम् चरित्र–निर्माण में परिवार की भूमिका–

बालक के व्यक्तित्व का विकास एवं चरित्र का निर्माण उसके शैशव–काल, बाल्यकाल, तथा विद्यालय के जीवन–काल में होने वाले संघर्षो, परिवार के सदस्यों, परिचितों एवं अन्य सम्बन्धियों के सम्पर्क के बीच होता है। व्यक्तित्व व चरित्र के निर्माण में परिवार का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि बालक को प्रारम्भ से ही अपेक्षित पारिवारिक निर्देशन सुलभ हो, तो उसका व्यक्तित्व उचित प्रकार से विकसित होता है।

विभिन्न परिवारों में विभिन्न परम्पराओं, सामाजिक संरचनाओं तथा परिस्थितियों के फलस्वरुप बालक को व्यक्तित्व का स्वरुप भिन्न–भिन्न हो जाता है। देखने में यह आता है, कि प्रायः उच्च तथा धनिक वर्ग के परिवारों में माता–पिता स्वयं के बहुत धनी व गर्वीले होने के कारण, अपने बालकों को अत्याधिक लाड़–प्यार में विगाड़ देते हैं, वे बच्चों की प्रत्येक इच्छा और आवश्यकता को तुरन्त पूरा करते हैं, उसके लिए अंधा–धुंध पैसा व्यय कर विलासिता की सामग्री क्रय करते हैं। बच्चों की अनुशासनहीनता को भी वे नजरन्दाज कर देते हैं। ऐसे पारिवारिक वातावरण के बच्चों का व्यक्तित्व दम्भी, क्रूर, अनुदार और स्वार्थी के रूप में विकसित होता है।

एक गंदी बस्ती के निवासी, एक मजदूर के निर्धन परिवार के बालकों के (जिसमें बहुत से बच्चे व परिवार के अन्य सदस्य होते हैं) विकास का स्वरूप भिन्न होता है। इन बालकों का अस्वास्थकारी परिस्थितियों, अभाव, निर्धनता, चिन्ता, भय, कठोर नियंत्रण, अनुत्तरदायित्व निराशा, शराब खोरी , गाली–गलौज आदि के वातावरण में पालन पोषण होता है। ऐसे बालक, ढीठ, रुखे, अत्याधिक व्यक्तिवादी, स्वार्थी, पढ़ाई लिखाई के प्रति उदासीन, क्रोधी, भावनात्मक रूप से असन्तुलित और अनियंत्रित बन जाते हैं।

---

*The message of Viveknand.

**संयुक्त–परिचय वाल–विशेषांक–पृ. सं. 20 सं. डॉ एस0 पी0 चौबे

मध्यम वर्ग के माता-पिता शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन में भौतिक प्रगति, उत्तम पहनावा, आदि के महत्व को समझते हैं। ऐसे परिवार में रहन-सहन का स्तर व नैतिकता, उत्तरदायित्वों का स्तर, निम्न वर्गों से कहीं अच्छा होता है। फलतः ऐसे परिवारों के बालकों का सामाजिक स्तर ऊँचा होता है।

उपर्युक्त विवेचना से यह परिलक्षित होता है, कि मध्यम वर्गीय परिवारों का परिवेश, बालकों के व्यक्तित्व विकास के लिए आदर्श है। व्यक्तित्व-विकास और चरित्र निर्माण यद्यपि पृथक-पृथक हैं, कि सद्गुणों का विकास दोनों का ही लक्ष्य है। दोनों ही व्यक्ति को श्रेष्ट बनने के माध्यम हैं, और दोनों अभीष्ट भी। व्यक्तित्व-विकास और चरित्र-निर्माण के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए अव हम चरित्र-निर्माण पर विचार करेंगे।

चरित्र किसे कहते है? उसकी क्या परिभाषा है? इस सम्बन्ध में विद्धानों में मत-भेद है। अनेक विद्धानों ने इसे अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। सैम्यूअल इस्माइल के अनुसार-

*
"चरित्र आदतों का पुंज है।"

वाडली के अनुसार-

*
"चरित्र आत्म नियंत्रण की शक्ति है।"

नोविलिस के विचारानुसार

*
"चरित्र पूर्णतया प्रशिक्षित इच्दा शक्ति है।"

चरित्र की उपरोक्त परिभाषायें अपूर्ण एवं एकांगी हैं, क्योंकि ये चरित्र के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त नहीं करती। चरित्र का अर्थ इन सभी परिभाषाओं से विस्तृत तथा विशद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चरित्र को व्यक्तित्व, नैतिकता, स्वभाव अथवा इन सभी तत्वों का पूर्ण योग माना है। कहने का अभिप्राय यह है कि, चरित्र एक ऐसा पक्ष है, जिसमें व्यक्तित्व, नैतिकता तथा स्वभाव पूर्ण रूपेण मिल कर उचित सामज्जस्य प्रस्तुत करते है।
श्री कारमाइकेल के शब्दों में हम कह सकते है-

*
" चरित्र एक गतिशील धारणा है, यह व्यक्ति के दृष्टि कोणों तथा व्यवहार की विधियों का पूर्ण योग है।"

चरित्र का निर्माण शुष्क किताबी ज्ञान से स्म्भव नहीं है। इसके लिए बालक का परिवार तथा पड़ौस का परिवेश सबसे अधिक कारगर और सक्षम होता है, बालक अनुकरण से चारित्रक विशेषताओं ग्रहण करता है, इसलिए परिवार को अपने आचरण के आदर्श उदाहरण बालकों के सम्मुख, प्रस्तुत करना चाहिए।
कहा भी गया है-

---

* Example is better than percepIt

* साहित्य परिचय : बाल-विशेषांक पृ0 सं0 81

प्रसिद्ध विद्वान **मैथ्यूआर्नओल** का मत है कि, जीवन का तीन चौथाई आधार अच्छा चाल-चलन है, अच्छा चाल-चलन ही चरित्र की नींव है। चरित्र की नींव तभी मजबूत हो सकेगी, जब इसके लिए माता-पिता परिवार के प्रबुद्ध जन तथा शिष्ट-शिक्षक गण बालकों को अपने निजी चरित्र-बल से, सतत प्रेरणा देने की चेष्टा करते रहेंगे। चारित्रिक गिरावट का सुधार अनुकरणीय और प्रेरणाप्रद उदाहरणों से अपने आप प्रकट हो जाता है। और उसके लिए उपदेश या दण्ड देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है। दण्ड के भय से चरित्र का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है। और न कोई उपदेश ही प्रभावशाली होंगे। बालक के चरित्र-निर्माण का कार्य वही व्यक्ति सम्पन्न कर सकते हैं, जो स्वयं चरित्रवान हों।

भारतीय संस्कृति में तो चरित्रवान व्यक्ति को ही पंडित की सार्थक उपाधि प्रदान की गई है। निम्नलिखित श्लोक में चरित्र की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है-

" परवारेषु मातृवत्, पर द्रव्येषु व्योष्ठवत्।
आत्मवत् सर्व भूतेषु, यः पश्यतिसः पाण्डितः।"

भारतीय मनीषा के शिखर पुरूष स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में शिक्षा द्वारा ज्ञानार्जन की अपेक्षा जीवन-निर्माण-प्रक्रिया पर अधिक जोर देना श्रेष्ठकर है। उनके विचार से-

***"We must have life-building man-making and assimilation of ideas. If you have assimilated five ideas and make them your life and Character you have more education than any man who has got by heart a whole liberary"**

— Vivekanand

भारत का इतिहास साक्षी है कि, बालक प्रहलाद को भगवान का अनन्य भक्त बनाने का एकल श्रेय उसकी माता सुनीति को है। भरत का चक्रवर्ती सम्राट बनाने का श्रेय उनकी माँ शकुन्तला को है, जो उनकी प्रेरणा-दायी थी। शिवाजी को अनन्य राष्ट्र भक्त और वीर बनाने में, माता जीजाबाई का सम्पूर्ण योगदान था।

इसी प्रकार पिताओं ने भी अपने बच्चों को आदर्श बनाने में ऐतिहासिक भूमिका अदा की है। जोरावर सिंह और फतह सिंह को राष्ट्र एंव धर्म पर बलिदान हो जाने की प्रेरणा देने वाले उनके पिता जी श्री गुरु गोविन्द सिंह ही थे। महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू को राष्ट्रभक्त और परोपकार हेतु उनके पिता श्री करमचन्द्र गाँधी तथा मोतीलाल नेहरू के योगदान को कोई भी नहीं भुला सकेगा।

---

* From the message of Vivekanand (Page 10)

इस प्रकार एक नहीं, अनेक महापुरुषों को अपने परिवार से, हीं ऐसी प्रेरणा मिली थी, जिससे वे बचपन से ही उन उदात्त गुणों की ओर उन्मुख हो गए और अपने चरित्र का निरन्तर विकास करते हुए महापुरुषों की श्रेणी में पहुँच गए।

समाज में उन चोरों, लुटेरों, डकैतों, भ्रष्टाचारियों एवं तस्करों आदि की भी कमी नहीं रही, जो बचपन में पारिवारिक दूषित मनोवृत्तियों, कुकर्मों, दुराचारों एव पापाचारों को देख-देख कर दुश्चरित्र हो गए। फिर प्रौढ़ होने पर भी, अपने चरित्र में सुधार न ला सके और सम्पूर्ण समाज के लिए कलंक और कष्टकारी साबित हुए।

बालक की पशुत्व की स्थिति से मानवत्व की स्थिति प्राप्त करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया,चरित्र निर्माण की प्रक्रिया है। पाशविक-भावना से मोक्ष दिला कर बालक को पूर्ण मनुष्यत्व प्रदान करना परिवार का कार्य है, जो बालक के शैशव-काल से प्रारम्भ होता है। चरित्र-निर्माण मानवधर्म की पारिवारिक स्थापना है। यही मानवीय-धर्म पशु और मनुष्य में भेद निरूपित करता है। यथा-

*
" आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यतेतत् पशुर्मिनराणमय।
धर्मो हितषाय अधिको विशेषो, धर्मेण्हीनः पशुभिः समानः।।,
(मानुस्मृति से)

संस्कृत साहित्य में बालक की शिक्षा को परिवार का उत्तर दायित्व निरूपित करते हुए कहा गया है-

**
"माता शत्रु, पिता वैरी, येन वालो न पाठितः
न शोभते सभा मध्ये हंस मध्ये बको यथा।"

यहाँ शिक्षा का तात्पर्य चरित्र निर्माण वाली पारिवारिक शिक्षा से है, विद्यालयों की शुष्क किताबी शिक्षा से नहीं - - - - - - ।

* मानुस्मृति से उद्धृत

** सुभाषितानि से उद्धृत
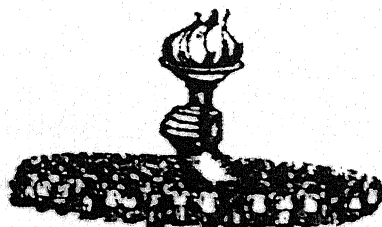
चतुर्थ—अध्याय

अभिभावक-अध्यापक संघ का प्रत्यय एवं मूल सिद्धान्त-

श्री शरदेन्दु उपशिक्षा निदेशक शिविर मा0 शिक्षा उत्तर प्रदेश ने अध्यापक-अभिभावक संघ के सम्बन्ध में विचारार्थ विषय प्रवेश करते समय डॉ0 एस0 एल0 महरोत्रा के अर्धशासकीय पत्रांक शिविर 22756-836 दिनॉक 26 सितम्बर 75के साथ संलग्न " माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में विधार्थियों माता-पिता के सहयोग प्राप्त करने में योजन" शीर्षक के अर्न्तगत निदेशक जी के विचार रखे। जिसमें उन्होने अध्यापक अभिभावकों को निकट लाने और परस्पर सहयोग करने के निम्नलिखित प्रयोजन प्रस्तुत किये।

(1) शिक्षा के तीन अंग-

(अ) विद्यार्थी

(ब) अध्यापक

(स) अभिभावक

है। तथा तीनों एक दूसरे के अधिकाधिक सम्पर्क में आयें। और विद्यार्थी के शैक्षिक व्यवस्था और उसके शैक्षिक चरित्रिक विकास के लिये तीनों का निकट सम्पर्क में आना अति आवश्यक है।

(2) विद्यार्थी छः घण्टे विद्यालय में, अठारह घण्टा शेष समाज के साथ व्यतीत करता है, उन्नत शिक्षा व्यवस्था केवल स्कूल तक ही सीमित नहीं रखी जा सकती और विद्यालय से बाहर बिताये गये समय को विद्यार्थियों को, नजंर से ओझल नहीं किया जा सकता। फिर ज्ञान के विस्फोट में बदलतें पाठ्यक्रम और छात्र की विभिन्न आवश्यकताओं से परिचित होकर, उनकी पूर्ति करना भी इस आयोजन का एक लक्ष्य है।

श्री शरदेन्दु ने उक्त अध्यापक अभिभावक संघ के निम्न उद्देश्य भी प्रस्तुत किये।

उद्देश्य-

(1) अध्यापक-अभिभावक के परस्पर सहयोग से विद्यार्थियों के हितो की वृद्धि करना और चारित्रिक विकास करना।

(2) परिवार तथा विद्यालय के बीच निकट सहयोग उत्पन्न करना। ताकि विद्यालय के नियमित कार्य में सुधार तथा उसके विकास की योजनाओं में सहयोग प्राप्त हो सकें।

(3) अध्यापकों और अभिभावकों में सहयोग और भागीदारी का भाव उत्पन्न करना ताकि बालक के पढ़ने के उद्देश्य पूरे हो सके।

(4) विद्यालय की शिक्षा के सम्बन्ध में अध्यापकों एवं अभिभावकों में अच्छी समझ पैदा करना। ताकि उनकी आवश्यकताओं और समस्याओं के सम्बन्ध में सहमति हो सके।

गठन–

प्रत्येक राजकीय एवं अराजकीय विद्यालयों में अध्यापक–अभिभावकों की एक साधारण सभा बनायी जाये, जिसमे विद्यालय के सभी अध्यापक रहेगें। तथा अध्यापकों का नामांकन निम्न से किया जावेगा–

(अ) प्रत्येक कक्षा में उत्तम परीक्षा फल वाले विद्यार्थियों के अभिभावकों का नामांकन।

(ब) सबसे निर्धन छात्र के अभिभावक का नामांकन, चाहे वह अनुसूचित अथवा जनजाति का सदस्य हो।

(स) पॉंच विशिष्ट अभिभावक (इस वर्ग में अवकाश प्राप्त व्यक्तियों को रखा जाय)

(द) सामान्य सभा द्वारा एक कार्यकरणी का चुनाव कर लिया जाय, कार्यकारणी का अध्यक्ष विद्यालय का प्रधान होगा। जो कोषाध्यक्ष का भी कार्य करेगा। कार्यकारणी की संख्या अध्यक्ष निश्चित करेगा।

कार्यसंचालन प्रक्रिया–

अध्यापक अभिभावकों की साधारण सभा की बैठक शिक्षण सत्र में कम से कम तीन बार होगी। यह बैठक निम्नलिखित अवसरों पर होगी।

(1) अध्यापक दिवस (पॉंच सितम्बर)

(2) गांधी जयन्ती (2 अक्टूबर)

(3) विद्यालय संस्थापना दिवस या वार्षिक समारोह अथवा खेलकूद सप्ताह के अवसर पर।

शिक्षा सत्र में कम से कम एक अध्यापक को एवं अभिभावकों के प्रतिनिधियों की एक बैठक राज्य स्तर पर पूर्व निश्चित स्थान पर होगी। जिसकी व्यवस्था शिक्षा निदेशक के तत्वाधान में की जावेगी।

कार्यक्षेत्र एवं साधन–

इन समितियों को यह देखना होगा कि विद्यालय में किन–किन वस्तुओं या साज–सज्जा या उपकरणों की आवश्यकता है, विद्यालय में पानी, पीने का नल, शौचालय, सफाई एवं स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में क्या–क्या व्यवस्था करनी होगी।

विद्यालय के उपयोग हेतु विभिन्न वस्तुयें जैसे घड़ी टाट–फट्टी फर्नीचर आदि की व्यवस्था दान में प्राप्त वस्तुओं द्वारा की जा सकती है। किन्तु दान के लिये किसी व्यक्ति पर दबाब नहीं डाला जायेगा। दान केवल वस्तु के रूप में लिया जा सकेगा। नकदी दान लेना वर्जित होगा।

इन समितियों को किसी विशेष नगद धनराशि की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। किन्तु विद्यार्थियों के सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा कुछ धन की व्यवस्था की जा सकेगी। सरकार द्वारा, इस हेतु कोई अनुदान एवं आर्थिक सहायता नहीं दी जायेगी। समिति द्वारा एकत्रित धन का आय–व्यय का भी नियमित रूप से कानूनी ऑडिट होगा।

शैक्षिक कार्यक्रमों में अभिभावको का प्रवेश–

विद्यार्थियों के सामान्य ज्ञान एवं विषय ज्ञान का मूल्यॉकन करने हेतु अभिभावको को महीनों में एक बार अवसर प्रदान किया जावे, कि वे कक्षा में जाकर विद्यार्थियों से प्रश्नोत्तर कर सके। तथा अध्यापक की शिक्षण पद्धतियॉ, नियंत्रण आदि के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से अपने विचार विद्यालय के प्रधान को दे सकें। निर्धन छात्रों के लिये प्रत्येक विद्यालय में बुक बैंक स्थापित किये जाये।

श्री शरदेन्दु जी के उक्त प्रस्तावित स्वरूप पर, गहन मनन किया गया। प्रथम दृष्ट्या विचार हेतु निम्न लिखित सज्जनों ने अपने विचार और उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये।

(1) श्री गोपीनाथ शर्मा (आगरा) ने शंका व्यक्त की अध्यापक अभिभावक एसोसियेसन एवं प्रबन्ध समितियों में परस्पर संघर्ष होने की स्थिति आ सकती है और उस स्थिति में अध्यापक अभिभावक एसोसियेसन का प्रधान होने के नाते, प्रधानाचार्य ही प्रबन्ध तन्त्र का कोप भाजन होगा।

(2) श्री नागेन्द्र नाथ जी (बलिया) ने जिज्ञासा प्रकट की कि बिना कोष के कोई संगठन चल सका है। वस्तुओं का दान लेना, कबाड़खाना जोड़ना है। कोई व्यक्ति कभी भी अच्छी वस्तु दान नही करता।

(3) श्री शिव प्रसाद कुलश्रेष्ठ (उरई–जालौन) ने राज्य स्तरीय अध्यापक अभिभावक सम्मेलन में प्रतिनिधियों का चयन के आधार और सम्मेलन की सार्थकता पर जिज्ञासाओं की झड़ी लगा दी।

(4) श्री अमरनाथ खत्री (फैजाबाद मंडल) ने अवकाश प्राप्त अध्यापको के पी0टी0ए0 में प्रवेश पर आपत्ति की और उन्होंने कहा सबसे अधिक खुरापात की जड़ यही लोग होते है। अतः पी0टी0ए0 को बचाने के लिये इन्हें दूर रखना चाहिये।

(5) श्री श्रीनारायण उपाध्याय (इटावा) ने अध्यापक अभिभावक संघ में प्रतिनिधियों के चयन पर आपत्ति की और कहा कि लोकतान्त्रिक संस्कृति में एक प्रधानाचार्य द्वारा समाज के विभिन्न व्यक्तियों का मनोनयन न व्यवहारिक है, न उपयोगी ही। वरन् इससे प्रधानाचार्य के चापलूसों की सेना खड़ी हो जायेगी अथवा प्रधानाचार्य के विरोध में अनेक व्यक्ति क्रियाशील हो जायेंगे।

(6) श्री एस0पी0 गुप्त (बरेली) ने संघ की जनरल बॉड़ी की तीन अवसरों पर, तीन बैठके बुलाने, पर आलोचना की । उनका सुझाव था कि अगस्त के महीने में जब विद्यालय में छात्रों का प्रवेश समाप्त हो चुका हो, तथा जनवरी के मास में जब षट्मासिक परीक्षाएँ समाप्त हो चुकी हो तब सामान्य सभा की मीटिंग बुलायी जानी चाहिए। राज्य स्तरीय अध्यापक अभिभावक सभा का कोई औचित्य नहीं है, और न ही कोई तालमेल विद्यालय के स्तर पर बैठता है।

(7) श्री राजाराम तिवारी (झाँसी) प्रस्तावित योजना में वित्त विहीनता की ओर सबका ध्यानाकर्षित किया। और सुझाव दिया कि विद्यालय के प्रत्येक छात्र के अभिभावक को अनिवार्यतः संघ का सदस्य बनाया जाय और उससे एक निर्धारित शुल्क लिया जाये, जिसका उपयोग अध्यापक अभिभावक के संकल्पो के अधीन विद्यालय के और विद्यार्थियों के विकास हेतु किया जावें। श्री तिवारी ने प्रधानाचार्य को कोषाध्यक्ष बने रहने में आपत्ति प्रकट की । उनका सुझाव था कि प्रधानाचार्य द्वारा नामित कोई अध्यापक कोषाध्यक्ष बनाया जाये। और प्रधानाचार्य को अध्यक्ष (संरक्षक) का स्थान दिया जाये।

(8) श्री ज्ञानेन्द्र देव त्रिपाठी (फर्रुखावाद) को समाज के धनी मानी लोगों से नगद रूप में दान लेने और उसका विधिवत् हिसाब रखने का सुझाव दिया। उनका यह भी सुझाव था, कि संघ की आय-व्यय का आडिट एक ऐसा अभिभावक करे जो व्यक्ति कार्यकारणी का सदस्य न हो। तथा आडिट रिपोर्ट कार्यकारणी से पुष्ट होकर जनरल बॉडी से पास करायी जाय।

(9) श्री मार्कण्डेय सिंह (गोरखपुर मण्डल) ने चुनाव हेतु वोटर सूची बनाने का प्रस्ताव किया और चुनाव सर्वानुमति से किया जाये। मतदान प्रणाली द्वारा नहीं। सर्वानुमति को स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया कि संघ का संरक्षक (अध्यक्ष) जो प्रधानाचार्य होगा। वही किसी एक व्यक्ति का, पूर्ण कार्यकारणी के परामर्श के आधार पर नाम प्रस्तावित करेगा, और यदि उपस्थित सदस्यों में से 1/4 सदस्य या उनसे कम सदस्यों द्वारा उस सदस्य का विरोध किया जाता है तो वह व्यक्ति सर्वानुमति से चुना माना जायेगा। इस प्रकार श्री सिंह ने छात्र संघ के चुनावों, प्रबन्ध समिति के चुनावों से भिन्न निर्वाचन प्रणाली का सुझाव दिया।

(10) श्री जय प्रकाश जैन (मेरठ, खेका बड़ौत) ने सुझाव दिया कि संघ की कार्यकारिणी की बैठकें, माह में होनी चाहिए और सामान्य सभा की बैठक सत्र में दो बार अगस्त तथा जनवरी में की जानी चाहिए। सामान्य सभा की दोनो बैठकों के लिये, एजेण्डा पूर्ण निर्धारित हो, तथा सम्पूर्ण प्रवेश के लिये एक रूपता हों।

(11) श्री बालाराम जी मिश्र (झाँसी) ने अध्यापक अभिभावक संघ एवं प्रबन्ध तन्त्रो के बीच में आने वाले विवाद के बिन्दुओ पर हल खोजने की दिशा में सुझाव दिया, कि विवादित बिन्दु दोनों पक्षों के तर्क पूर्ण आख्या के साथ, जिलाविद्यालय निरीक्षक को निर्णय हेतु सन्दर्भित कर देना चाहिए। और जिला विद्यालय निरीक्षक का निर्णय मान्य होगा।

(12) पौड़ी मण्डल के श्री राजवंशी जी ने अभिभावको द्वारा कक्षा निरीक्षण के प्रस्ताव का तीव्रतम विरोध किया और इसे प्रधानाचार्य के कार्य में हस्तक्षेप माना। तथा अध्यापकों को अपमानित करने का षड्यन्त्र बताया।

दिनाँक 8 जून 1986 को सम्पूर्ण सदन को निम्न लिखित उपसमितियों में विभक्त कर, अध्यापक आभिभावक संघ को निम्नलिखित अंकों पर विचार करने के लिए विभक्त कर दिया।

1– अध्यापक अभिभावक संघ उद्देश्य उप समिति।

2– संघ का गठन उप समिति।

3– संघ के कर्तव्य और अधिकार समिति।

4– संघ की वित्तीय संसाधन समिति।

5– विविध प्रयोजन समिति।

पाँचों समितियों ने अपनी अपनी विस्तृत आख्याए तैयार की और सदन में प्रस्तावित की गई तथा जिन्हें सदन में सर्व सम्मति से पारित किया गया। जिनमें अग्रांकित बिन्दुओं को विशेष रूप से उभारा गया।

(1) <u>शैक्षिक प्रक्रिया में समाज की सहभागिता–</u>

संघ के उद्देश्य संस्था और स्थानीय समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को बढ़ाना, संस्था की समस्याओ का आंकलन और निराकरण में स्थानीय सहयोग से सफल क्रियान्वयन करना, छात्रों में सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उन्नयन में अभिभावको की सहायता एवं मार्गदर्शन प्राप्त करना। तथा विद्यालय संचालन में परामर्श और सहयोग प्राप्त करके उत्तम व्यवस्था प्रस्तुत करना। किन्तु प्रबन्धकीय कार्यो में एसोसिएसन कोई हस्तक्षेप न करे।

उक्त संस्था विद्यालय की शैक्षिक व्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभायगी। संस्था की भौतिक एवं आर्थिक कमियों को पूरा करेगी। संस्था के कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने, शैक्षिक उन्नयन की प्रेरणा हेतु श्रेष्ठ अध्यापको, श्रेष्ठ छात्रों एवं श्रेष्ठ प्रधानाचार्यो को सम्मानित करेगी। व्यवसायिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा एवं कार्यानुभव की शिक्षा हेतु विभिन्न विद्वानों, सक्षम शिल्पकारों एवं विषय विशेषज्ञों का समाज से चयन कर उनका उपयोग करेगी। जनपदीय शिक्षा अधिकारियों, स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों, सार्वजनिक निर्माण विभाग, वन विभाग, खेलकूद विभाग, नेहरू युवा केन्द्र एवं अन्य विकास के अधिकारियों से सम्बन्धित सहयोग प्राप्त करेगी। और उनकी योजनाओं से छात्रों एवं विद्यालय को लाभान्वित करायेगी।

समाज के उदार और सम्पन्न व्यक्तियों से स्वैच्छिक दान प्राप्त कर, संस्था के विशेष आयोजनों, आवश्यकताओं और समस्याओं को हल करेगी। प्रबन्ध तन्त्र के प्रतिनिधियों को एसोसियेसन में आमंत्रित करके प्रबन्ध कारणी का सहयोग प्राप्त किया जायेगा। प्रतिभावान एवं पढ़ाई में कमजोर छात्रों के प्रतिनिधि भी अपनी समस्याओं को समाधान हेतु रख सकेंगे।

(2)शिक्षकों और अभिभावकों को परस्पर एक दूसरे की समस्याएं, सीमाऐं, समझने, और उनमें तालमेल बैठाना–

यह अध्यापक अभिभावक संघ का सबसे महत्वपूर्ण बिन्दु है इसमें कक्षा वार अभिभावक अध्यापक सम्मेलन हेतु व्यवस्थाऐं की जावें। कक्षा वार अध्यापक अभिभावक सम्मेलन के लिये प्रतिमाह विभिन्न कक्षाओं के सम्मेलन करने का प्रावधान हो, जिसमें सम्मेलन निम्नलिखित बिन्दुओ पर विचार करें।

(1) शिक्षण स्तर में सुधार के लिये अपनाये गये कार्यक्रमों की जानकारी एवं उनकी समीक्षा।

(2) कक्षा के परीक्षा फल की समीक्षा/ (विषय अध्यापकों की उपस्थिति में)

(3) पाठ्यक्रम का समय–सारणी के अनुसार पूर्ण किये जाने की योजना एवं समीक्षा।

(4) सत्रवार अध्यापन हेतु पाठ्यांश का निर्धारण एवं उसकी घोषणा।

(5) कमजोर छात्रों के लिये निदानात्मक **(Remedial)** व्यवस्था पर विचार।

(6) समस्याग्रस्त छात्रों के अभिभावकों से विद्यालयी अध्यापकों का सम्पर्क और अनुसरण कार्यक्रम।

(7) कक्षा के समस्या जनक बिन्दुओं में, सुधार के सुझावों पर विचार।

(8) उत्कृष्ट छात्रों का चयन एवं उनके विकास की योजनाएं।

(9) प्रतिभावान छात्रों द्वारा कमजोर छात्रों की पढ़ाई में, सहायता देने की योजना का कार्यान्वयन।

(10) समाजोपयोगी उत्पादक कार्य, नैतिक शिक्षा, व्यवसायिक शिक्षा आदि की योजना बनाना एवं उनकी व्यवस्था करना।

(3) विद्यालय का चर्तुमुखी विकास–

(1) भौतिक संसाधनो में वृद्धि–

निरन्तर बढ़ती हुई छात्र संख्या और घटते हुए संसाधनो ने विद्यालयों की दुर्गति कर दी है। अनावर्तक अनुदानों की क्षीणता ने विद्यालय के भवनों, फर्नीचर्स, काष्ठोपकरण, वाचनालय, पुस्तकालय, खेल सामग्रियों, मंनोरंजन की सामग्रियों एवं स्वास्थ्य कर शौचालय आदि की समस्याऐं खड़ी कर दी है।

इस हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षा में संलग्न व्यक्ति (अध्यापक व अभिभावक) सरकार का मुँह देखते न रहे वरन् वे समाज से दान आदि प्राप्त कर इन अभावों की पूर्ति करें। इस सम्बन्ध में शिक्षा निदेशक उ०प्र० के इस सुझाव को नकार दिया गया है कि पी०टी०ए० द्वारा नगदी दान न लिया जाये, केवल वस्तु रूप में ही प्राप्त किया जाये।

(2) शैक्षिक गुणवत्ता में वृद्धि–

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने व्यवसाय बनाने का संकल्प लिया है। इसमें समाज के विभिन्न शिल्पकारों विषय विशेषज्ञों एवं कुशल कर्मियों से सहयोग प्राप्त कर विद्यालय के शैक्षिक वातावरण में नवीनता लाने का प्रावधान है। कक्षा वार, अध्यापक अभिभावक सम्मेलन योजना भी इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसमें सभी प्रकार के छात्रों की समस्याऐं अपेक्षित हैं। सामाजिक सहयोग प्राप्त कर, निदानात्मक शिक्षा प्रतिभावान छात्रों के द्वारा सम्पन्न कराने का संकेत है।

(3) सामाजिक विकास–

अध्यापक अभिभावक एसोसिएसन छात्रों और विद्यालय से सम्बन्धित सम्पूर्ण क्रिया कलापों के लिये, सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करेगा। समाज के प्रत्येक अभिभावक से निकटता स्थापित कर, विद्यालय समाज से कटा–कटा न रहेगा। तथा वह सामाजिक चेतन का प्रकाश स्तम्भ बनेगा। राष्ट्रीय पर्वो तथा अन्य विद्यालयीय आयोजनों में समाज के विभिन्न व्यक्ति सम्मलित किये जायेंगे, और उनका आत्मिक स्नेह विद्यालय प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। छात्र को भी विद्यालय कारागार प्रतीत न होगें, वरन् उसे ऐसा आभास होगा कि घर की जैसी स्वतंत्रता और अपनापन तथा विद्यालय में नियंत्रित होगा। मानव विकास की यह शैक्षिक प्रक्रिया विद्यालय की चाहर दीवारी में न रहकर समाज के विस्तृत क्षेत्र में सम्पन्न होगी।

(4)विद्यालय के क्रिया कलापों से अभिभावको को संलग्न करना और सहभागिता प्राप्त कराना-

शैक्षिक प्रक्रिया में निरन्तर परिवर्तन हो रहे है। पाठ्यक्रम शिक्षण विधियों,अभ्यास प्रणाली और पाठ्य वस्तुएं नवीन-नवीन शोध एवं अन्वेषणों का समावेश किया जा रहा है। सामान्यतः अभिभावक इन बातों से परिचित नहीं होता। उदाहरण के लिये प्रकृति निरीक्षण के लिये घूमना, खेलकूद करना, गायन वादन को जीवन का अंग बनाना, मनोरंजन आदि कतिपय ऐसे विषय हैं, जो व्यक्तित्व विकास के लिये आवश्यक है। किन्तु नवीन जानकारियों से अनभिज्ञ अभिभावक गण इन क्रिया कलापों को निरर्थक-निरुद्देश्य और छात्रों के बिगड़ने का प्रतीक मानते है। छात्रों का सभा सोसायटी में जाना भी, उन्हें (कतिपय अभिभावको को) पसंद नहीं, उनकी इन धारणाओं को बदलने के लिये यह आवश्यक है, कि उन्हें विद्यालय से जोड़कर, विद्यालय में बुलाकर, नवीनतम् शिक्षा अधिगमों की जानकारी दी जाये। उनके छात्र की विभिन्न प्रतिभाओं का ज्ञान अभिभावक को कराया जाये। तथा उन्हें प्रोत्साहन एवं प्रेरणा दी जाये।

छात्रों की समस्याओं की जानकारी अध्यापकों को दी जाय, और अभिभावकों को भी दी जाय और दोनों मिलकर छात्रों के विकास में अपनी सहभागिता प्रदान कर सकें।

(5)विद्यालय के प्रति सामाजिक सद्भाव प्राप्त करना-

विभिन्न अवसरों पर अभिभावकों को आमंत्रित करना, विद्यालय के क्रिया कलापों को अभिभावको को दिखाना। खेलकूद, सांस्कृतिक कार्यक्रम, साहित्यिक परिचर्चाएं, राष्ट्रीय महोत्सव आदि अवसरों पर अभिभावको को बुलाना उनकी आत्मीयजा जीतने का सबल साधन है। विशिष्ट विद्वानों का सामाजिक सम्मान, अच्छे अभिभावकों का सार्वजनिक अभिनन्दन एवं प्रतिष्ठा प्रदान करना। विद्वान अध्यापकों द्वारा समाज की सहानुभूति, समाज का सहयोग एवं सामाजिक योगदान प्राप्त किया जा सकता है।
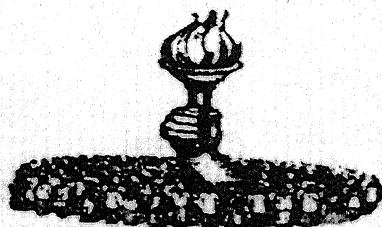
पंचम—अध्याय

अध्यापकों एवं अभिभावकों की अन्यमनस्कता एवं शैक्षिक क्रिया कलापों के प्रति उदासीनता-

वर्तमान में लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अनुरूप, मानवीय संवेदनाओ के विकास में शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। बदलते समय की चुनौतियों का सामना करने के लिये, प्रत्येक देश अपनी शिक्षा व्यवस्था विकसित करता है। उदाहरण के तौर पर रूस की साम्यवादी व्यवस्था ने समाजवादी शिक्षा को, संयुक्त राज्य अमेरिका के पूँजीवाद ने, व्यवसायिक शिक्षा को, एवं इजराइल की सैन्यवादी व्यवस्था ने,शिक्षा को सैन्यीकृत करके, अपनाया है। तथा हमारे संदर्भ में विकासोन्मुख शिक्षा व्यवस्था हमारे अतीत के अनुभवों व वर्तमान की आवश्यकताओं पर निर्भर होकर हमारी जनता के साथ ही मानवता के लिये एक अच्छे भविष्य के अतिरिक्त, एक अच्छे समाज व शैक्षिक परिवेश का निर्माण कर देश की सर्वोन्मुखी विकास करेगी।

आज के भौतिक वादी युग में समाज के प्रायः सभी वर्गो में धनार्जन की प्रवृत्ति पायी जाती हैं। इस प्रवृत्ति से अध्यापक एवं अभिभावक भी अछूता नहीं रहा है।

(अ) अभिभावकों की व्यस्तता एवं पोषण में उलझनें-

अभिभावक अपने परिवार के उदर पोषण हेतु आर्थिक सुविधाएँ जुटाने में आज इतना व्यस्त हो गया है, कि अपने पारवारिक जीवन के शैक्षिक विकास हेतु उसके पास समय ही नहीं रहता। विभिन्न व्यवसायों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई पेंचेदगियाँ, वैधानिक जटिलताएँ, विभिन्न संगठनों की पार्टीबन्दी एवं गुटबाजी, जो लोकतान्त्रिक संस्कृति के अभिशाप हैं, के कारण अभिभावक का अधिकांश समय अपने परिवार एवं व्यवसायिक संगठन के विभिन्न संघर्षो में ही व्यतीत होता है, और उसका ध्यान अपने परिवार की सांस्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक वातावरण की ओर बिल्कुल ही नहीं जा पाता, वही स्थिति महिला अभिभावकों की है। सम्पूर्ण परिवार की भोजन व्यवस्था, स्वास्थ्य परिचर्या में ही महिला अभिभावक, का समय व्यतीत हो जाता है। और अपने पाल्य छात्र के शैक्षिक विकास की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। कुछ सम्पन्न परिवार की महिलायें जिन्हें नौकर चाकर की सुविधाएँ उपलब्ध है, जिनका शैक्षिक विकास हो चुका होता है, और जिनकी संख्या बहुत कम होती है, अपने बच्चों की देखरेख कर पाती है।

इस प्रकार अभिभावक छात्र के शैक्षिक क्रिया कलापों से अन्यमनस्क एवं विरत् हो जाता है।

(ब) अध्यापकों की कक्षा शिक्षण के अतिरिक्त अन्यत्र व्यस्तता-

आर्थिक संकट के इस और मँहगाई के युग में अध्यापक सदैव धनवान से पीड़ित रहता है।

समाज की बढ़ती हुई भौतिक आवश्यकताएँ बदलते हुए परिवेश में अपने आपको समायोजित करने हेतु अध्यापकों को नौकरी के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय ट्यूशन आदि का सहारा लेना पड़ता है। ताकि वह अपने परिवार का सामाजिक स्तर बनाये रखने में सक्षम हो सके।

अध्यापक आर्थिक संत्रास में परेशान रहते हुए,विद्यालय में अध्यापन कार्य करता है। इस अध्यापन काल में उसकी वृत्ति व्यवसायिक वृत्ति हो जाती है। वह छात्र की शैक्षिक आवश्यकता पूर्ण न हो सके, और छात्र को अधूरा ज्ञान, अस्पष्ट बिम्ब, और जानकारी हासिल हो सके। जिसकी पूर्णतः के लिये छात्र को अध्यापक से ट्यूशन कराना आवश्यक हो जाये।

अपने इस व्यवसाय के लिये उसे तमाम तरह की अनेक नीतियों का सहारा लेना पड़ता है। कभी छात्रों में गुटबन्दी करके, एक गुट को प्रश्रय देना और उस गुट से मुद्रा-दोहन करना। कभी छात्र दलालों का प्रयोग कर सम्पन्न और अबोध छात्रों को फँसाकर रुपये ऐंठना।

कभी प्रयोगात्मक परीक्षा का भय दिखाकर, छात्रों की विवशता का लाभ उठाना। कभी प्रश्नपत्र आउट कराना। कभी परीक्षा के मूल्यॉकन में तिकड़मबाजी करना। और अध्यापकों से पारस्परिक समझौते और ब्लेक मेलिंग के आधार पर परीक्षा परिणामों को प्रभावित करना आदि-आदि।

अध्यापक कभी आर्थिक विवशता में कभी ब्लेकमेलिंग के कारण और भय और आतंक से कक्षा में छात्रों के साथ न्याय नहीं करते है। और इस प्रकार अध्यापक शैक्षिक प्रक्रिया में एक दम उदासीन हो जाता है। वर्तमान शैक्षिक प्रशासन में ऐसी जड़ता आ गई कि, वह न तो योग्य परिश्रमी, कर्तव्यनिष्ठ अध्यापकों को न तो पुरूष्कृत करता है, और न ही अक्षम, अयोग्य, कर्तव्यच्युत अध्यापकों को दण्डित कर पाता है। इसीलिये अध्यापक यथास्थिति वादी हो गया है। और छात्रों के शैक्षिक विकास में कोई रूंचि न लेने वाला व पूर्ण रूप से उदासीन हो गया है। जो अध्यापक ट्यूशन नहीं करते तथा ऐसे विषयों के अध्यापक है, जिनमें ट्यूशन नहीं मिलती। वे घुटन एवं कुण्ठा का जीवन व्यतीत करते हुए, आत्महीनता के भाव से ग्रसित हो जाते है। और उनकी रही सही क्षमता भी प्रभावहीन हो जाती है। जिससे छात्र के शैक्षिक विकास का आधार ही समाप्त हो जाता है।

(स) प्रबन्ध तन्त्रो की आर्थिक साधन विहीनता-

शिक्षा प्रक्रिया में होने वाले आर्थिक व्यय की सम्पूर्ति आदि काल से विभिन्न रूपों में होती रही है। वैदिक कालीन शिक्षा में गुरुकुलो से लगी हुई, खेती (कृषि) योग्य भूमि, राजकीय सहायता एवं बटुको द्वारा भिक्षा यापन के माध्यम से शिक्षा के लिये आर्थिक संसाधन जुटाएँ जाते थे। राजकोष का दसवॉ भाग शैक्षिक कार्य के लिये अनुदानित किया जाता था। प्रत्येक गृहस्थ के लिये उसकी कमाई का दसवॉ भाग ऋर्षि-ऋण की अदायगी हेतु बचाया (प्रयोग) जाता था। और शिक्षा व शिक्षालयों की आवश्यकताओं को पूरा किया जाता था।

मुगल कालीन शिक्षा व्यवस्था में मदरसों और मकतबों को सरकार की ओर से तथा व्यक्तिगत रूप से सम्पन्न लोगों की ओर से इम्दाद की जाती थी। वास्तव में इस्लाम धर्म चार अंग थे– नमाज, रोजा, हज, जकात। इस्लाम धर्म के चौथे भाग जिसे जकात कहा जाता था, हर मुस्लमान को अपनी नेक कमाई का 1/10 (एक/दस) भाग जकात में देना अनिवार्य था। इस जकात से समाज के निर्बल वर्ग के लोगो यतीम मजलूम लोगों की सहायता की जाती थी। इसी जकात में से और भी शबाब (पुण्य) के काम किये जाते थे। जिनमें मदरसों एवं मकतबों की इम्दाद भी शामिल थी। बडे–बड़े नबाब, बड़े पेशेवर तथा राजघरानों से सम्बन्धित व्यक्ति भी विद्यालयों को दान दिया करते थे। और तालीम में होने वाले खर्च में हाथ बटाते थे। इस प्रकार सरकारी इम्दाद, व्यक्तिगत ज़ाकत के सहारे अच्छा आर्थिक आधार प्राप्त हुआ। अंग्रेजी हुकुमत में पश्चमी व्यवस्था के अनुसार विद्यालयों को राजकीय सहायताएँ 'ग्राण्ट इन ऐड' दी जाती थी।

रजवाड़ो में राजा–रईस लोग अपने प्रभाव वृद्धि के लिये विद्यालयों को उदार मन से दान दिया करते थे। और शिक्षा के पावन यज्ञ में उनकी यज्ञाहुतियाँ भी पड़ती रहती थी। उन दिनों न तो छात्रों से चन्दा वसूल किया जात था, न ही अध्यापकों का पेट काट कर विद्यालय विकास किया जाता था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के विकास को तीव्र गति प्रदान की गई। भारतीय गणतन्त्र के प्रत्येक राज्य में हर पंचवर्षीय योजनाओं में, विभिन्न प्रकार के नये–नये विद्यालय खोले गये और विकसित किये गये। स्वायित्व–शासी संस्थाओं ने भी शिक्षा के इस पवित्र काम में बढ़–चढ़ कर भाग लिया। व्यक्तिगत संस्थाओं में भी, शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार में अपना योगदान दिया। शिक्षा को राज्य सूची का विषय बनाया गया और विभिन्न राज्यों ने अपनी सामर्थ्यानुसार शिक्षा के व्यय को विभिन्न अनुपातो में वहन भी किया। जिसके कारण शिक्षा का विकास तो हुआ, किन्तु नियंत्रण विहीन रहा। और कोई राज्य शैक्षिक विकास में बहुत आगे निकल गया तो कोई राज्य बहुत पीछे रह गया।

इस असमानता को केन्द्रीय सरकार ने अनुभव किया, और केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने भी यह अनुभव किया, कि शिक्षा के क्षेत्र में यह असमानता बढ़ती गई तो भयानक परिणाम सामने आयेंगे। इसीलिये सन् 1976 में डॉ0 सी0 एम0 छागला केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने शिक्षा को राज्य सूची से निकाल कर समवर्ती (Concurrent) सूची में शामिल किया। और इस प्रकार पहली बार केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप प्रारम्भ हुआ और राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा की व्यवस्था निर्धारित करने तथा उसके लिये राष्ट्रीय स्तर पर संसाधन जुटाएँ जाने लगे।

देशी राजा और राजवाड़ो के विलय ने विभिन्न राजाओ से मिलने वाली आर्थिक सहायता को एकदम क्षीण कर दिया। समवर्ती सूची में शिक्षा आ जाने के कारण राज्यों ने अपने शिक्षा बजट को कम कर दिया। केन्द्रीय सरकार अपने बजट का मात्र ढाई प्रतिशत (2.5%) शिक्षा के लिये बचा सकी। राजा–रईसो के व्यक्तिगत दान, लोकतान्त्रिक चुनाव के खर्चो में बदल गये। शिक्षा सेवी और समाज सेवी बनने की अपेक्षा नेता और राजनेता बनने का भूत सम्पन्न व्यक्तियों को सवार हो गया। और शिक्षा की आर्थिक स्थिति दीन–हीन होती चली गई।

वर्तमान परिपेक्ष्य में समाज से मिलने वाला आर्थिक योगदान शून्य प्राय हो गया। राज्य सरकारों के सिकुड़ते हुए बजट और बढ़ती हुई मँहगाई में (Grant-in-add) की स्थितियॉ क्षीण होती चली गई। सरकार से मिलने वाले आर्वतक (Recurring) तथा अनावर्तक (Non-Recurring) ग्राण्टें कम होती चली गई। इसी बीच, किन्हीं राज्यों में शिक्षा का राष्ट्रीयकरण, किन्हीं राज्यों में स्वात्यिकरण तथा किन्हीं राज्यों में व्यक्तिगत प्रबन्धंको को प्रोत्साहन दिया गया। कुछ राज्यों ने अध्यापकों के वेतन वितरण का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। जिसके कारण राज्य सरकार का शिक्षा बजट मात्र वेतन भुगतान पर व्यय होने लगा तथा विद्यालयों को मिलने वाले अनावर्तक अनुदान बन्द से हो गये। यहॉ यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि Recurring grant (आर्वतक अनुदान) वे अनुदान है जिन्हे राज्य सरकार त्रैमासिक किस्तों में प्रतिवर्ष अदा करती थी। और जो प्रायः अध्यापकों के वेतन भुगतान के निमित्त होती थी। Non-Recurring (अनार्वतक अनुदान) वे अनुदान है, जिन्हें सरकार विद्यालय विकास, जैसे- भवन निर्माण, फर्नीचर व्यवस्था, पुस्तकालय संवर्धन, प्रयोगशाला निर्माण, क्रीड़ागंन निर्माण, सभागार निर्माण आदि-आदि प्रयोजनो के लिये दिया करती थी।

वेतन वितरण का दायित्व लेने के कारण सरकार के आर्थिक स्त्रोत क्षीण होते चले गये। और आर्वतक अनुदान में ही सम्पूर्ण बजट व्यय होने लगा। और नाम मात्र के लिये अनावर्तक अनुदान स्वीकृत किये गये, जिनसे विद्यालय विकास कार्यक्रम बुरी तरह प्रभावित हुए। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के परोक्ष हस्तक्षेप, राज्य सरकार की सीमित अधिकार हीनता के कारण विद्यालयलों के आर्थिक आधार छिन्न-भिन्न हो गये और विद्यालय प्रबन्ध तन्त्र, विद्यालय विकास से पूर्णतः उदासीन एवं अन्यमनस्क हो गया। और यह भी अध्यापक अभिभावक एसोसिएशन के निर्माण में एक आधार प्रक्रिया वनी।

(द)शिक्षकों को व्यवसायिक एवं राजनैतिक संगठनो की ओट में मिली निरंकुशता एवं नियंत्रण विहीनता-

शिक्षक आदिकाल से आदर्श नागरिक, प्रतिष्ठित व्यक्ति और सर्व-सम्मानित व्यक्ति के रूप में माना जाता रहा है, इसी सम्मान के उपलक्ष्य में वह अपना तन, मन, धन और अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा, सामर्थ्य एवं ज्ञान को समाज के हित के लिये अर्पित करता रहा है, स्वयं को मर्यादा और संयम की जंजीरो में बांधे हुए भौतिक चकाचौंध से दूर, आर्थिक विपन्नता के कष्टो का जहर पीते हुए, समाज को ज्ञान और अध्यात्म का अमृत बॉटता रहा है।

स्वतंत्रता संग्राम के युद्ध में शिक्षक वर्ग ने बढ़कर आत्माहुतियॉ दी है। और सम्पूर्ण राष्ट्र को नैतिक साहस प्रदान किया है, किन्तु ये बातें, आज के संदर्भ में अतीत की प्रतीक होने लगी है। वर्तमान समय में अध्यापक व्यवसायिक संगठनो में विभक्त, राजनैतिक संगठनो की विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित और संचालित है। अपने पुनीत व्यवसाय, जो आत्म नियन्त्रण और आत्म-बलिदान पर आधारित था। आज के सन्दर्भ में आधरहीन हो गया है। अब शिक्षा व्यवसाय में जुड़े हुए अनेक संगठन खड़े हो गये है, जो ट्रेड यूनियनज्म् पर आधारित है। विभिन्न स्तरों पर शिक्षा जगत में निम्नलिखित संगठन कार्यरत है-

(1) शिक्षक संघ (जिसकी कई साखाएँ एंव उपशाखाएँ कार्यरत है।)

(2) शिक्षणेत्तर कर्मचारी संघ (जिनमें विद्यालय में कार्यरत चतुर्थ वर्गीय कर्मचारी एवं लिपिक शामिल है।)

(3) उ0प्र0 प्रधानाचार्य परिषद।

(4) प्रबन्धक महासंघ।

(5) तदर्थ अध्यापक संघ।

(6) बेरोजगार शिक्षक संघ आदि।

इसी प्रकार लोकतान्त्रिक निर्वाचन प्रणाली ने भारतीय जन मानस को अनेकों दलों की राजनीति एवं विचार धाराओं में विभक्त कर दिया है। भारतीय मनीषा यह विभाजन शिक्षक संगठनों में भी प्रतिबिम्बित हुआ। विशेष रूप से शिक्षकों द्वारा विधान परिषद के सदस्यों के निर्वाचन के कारण शिक्षकों में राजनीति बहुत गहरे घुस गयी। अलग-अलग दलों ने अपने विचार धारा एवं अपने समर्थकों को राजनैतिक संरक्षण एवं साहयता देना प्रारम्भ कर दिया। परिणामतः प्रत्येक विद्यालय में अलग-अलग दलों के समर्थकों शिक्षक संगठित होते चले गये। और विधान परिषद की सदस्यता के लिये सक्रिय राजनीति में उतर आये। संक्षेप में निम्नलिखित राजनैतिक दल शिक्षक समुदाय को अपने-अपने झण्डे तले संगठित किये हुए है।

(1) भारतीय राष्ट्रीय कॉंग्रेस (ई)।

(2) भारतीय जनता पार्टी।

(3) जनता दल।

(4) सी0 पी0 एम0।

(5) सी0 पी0 आई0।

कुछ क्षेत्रीय स्तर की पार्टियाँ शिक्षक समुदाय को अपने साथ समाहित किये हुए है।

(1) हरियाणा विकास पार्टी।

(2) अकाली दल।

(3) असम गण परिषद।

(4) झारखण्ड मुक्ति मोर्चा।

(5) अन्ना द्रमुक।

(6) शिवसेना।

(7) कश्मीर मीजा फ्रंट।

(8) अन्ना (डी० एम० के०) आदि।

(9) समाजवादी पार्टी।

(10) राष्ट्रीय जनता दल।

(य) शैक्षिक प्रशासन में तारतम्य का अभाव एवं समन्वय क्षीणता–

समवर्ती सूची में शिक्षा का समावेश होने पर भी प्रधानता, शैक्षिक प्रशासन में राज्य सरकार की ही है, जिसके लिये सरकार के शिक्षा मंत्रालय, शिक्षा सचिवालय और शिक्षा निदेशालय के अर्न्तगत सम्पूर्ण विभाग कार्यरत है, मंडल स्तर पर मंडलीय उपशिक्षा निदेशक, मंडलीय बालिका विद्यालय निरीक्षका, उपर शिक्षा निदेशक (बेसिक) आदि अधिकारी कार्यरत रहते है।

जिला स्तर पर जिला विद्यालय निरीक्षक, जिला बेसिक शिक्षा अधिकारी एवं उपविद्यालय निरीक्षक कार्यरत है।

शिक्षकों की नियुक्ति हेतु पहले प्रबन्ध तन्त्र को अधिकार थे, किन्तु सन् 1981 से माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग एवं चयन बोर्ड विधि स्थापित कर दी गई है। जो प्रवक्ता, एल०टी० (प्रशिक्षित स्नातक) तथा अधि स्नातक अध्यापको के चयन कर नियुक्त हेतु संस्तुति करते है।

माध्यमिक शिक्षा परिषद छात्रों के शैक्षिक मूल्यॉकन, पाठ्यकम निर्धारण, शैक्षिक अनुसंधान एवं परीक्षाओं का संचालन करती हैं। वर्तमान् समय में माध्यमिक शिक्षा परिषद् पॉच भागो में विभक्त हो गई है :–

1 – क्षेत्रीय कार्यालय, इलाहाबाद।

2 – क्षेत्रीय कार्यालय, बाराणसी।

3 – क्षेत्रीय कार्यालय, मेरठ।

4 – क्षेत्रीय कार्यालय, गोरखपुर।

5 – क्षेत्रीय कार्यालय, बरेली।

कतिपय केन्द्रीय संस्थान के लिये प्रबन्ध समिति है, जो विभाग द्वारा अनुमोदित प्रशासन योजना के अर्न्तगत कार्य करती है। विद्यालय का कार्यकारी प्रमुख, प्रधानाचार्य होता है।

शिक्षा प्रकिया में नवीनतम् परिवर्तनों से सामंजस्य एवं समन्वयहीनता आ गई है। अध्यापकों का चयन माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग करता है। नियुक्ति प्रबन्ध तन्त्र द्वारा की जाती है। कार्य प्रधानाचार्य की देख-रेख में कराया जाता है, और वेतन वितरण का दायित्व जिला शिक्षा अधिकारियों के माध्यम से राज्य सरकार वहन करती है। इस प्रकार किसी भी स्तर पर शिक्षकों की नियुक्ति में तथा कार्य व्यवस्था में किन्ही दो ऐजेन्सीज (घटकों) का समन्वय नहीं है। प्रदेश स्तर पर नियुक्तियाँ हो जाने पर शिक्षकों का स्थानीय ममत्व समाप्त हो गया है। तथा प्रबन्ध तन्त्र और प्रधानाचार्य के प्रभाव से वह पूर्णतः मुक्त हो गया है। और विद्यालय के प्रति उसे कोई लगाव नहीं रह गया।

नियुक्ति की भाँति सेवा नियुक्ति में भी अलग-अलग घटकों की अलग-अलग भूमिका है। अतः दण्ड प्रक्रिया बड़ी जटिल और बहुपक्षीयाश्रित है। असंतोष जनक कार्य करने पर प्रधानाचार्य जिसे, तीसों दिन अध्यापक के कार्य को देखने का दायित्व है, उसे मात्र आख्या अधिकारी बना दिया गया है। प्रधनाचार्य की आख्या पर प्रबन्ध तन्त्र क्रिया शील होता है। जो अपनी विशिष्टिताओं के कारण प्रधानाचार्य की आख्या पर अनुकूल एवं प्रतिकूल कार्य करने के लिये स्वतन्त्र होते है। प्रबन्ध तन्त्र का निर्णय भी अन्तिम एवं पूर्ण नहीं होता है। उसके निर्णय का अनुमोदन और अनानुमोदन विभागीय अधिकारियों के माध्यम से या संस्तुति के आधार पर माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग द्वारा प्रदान किया जाता है। लोकतन्त्रीय प्रशासन की उस व्यापक प्रकिया में भ्रष्टाचार राजनैतिक हस्तक्षेप एवं अन्य संकीर्ण विचार धाराएँ, न्याय प्रक्रिया को दूषित करती हैं। और विद्यालय के प्रशासन को क्षति पहुँचाती हैं। प्रशासन में किसी भी स्तर पर तारतम्य नहीं हैं। और - प्रत्येक स्तर पर समन्वय हीनता ही दृष्दि गत होती है। सरकार भी शैक्षिक प्रशासन में कभी विकेन्द्रीकरण की नीति अपनाती है। तो कभी केन्द्रीय करण की, कभी शिक्षा प्रशासन नौकर शाही का शिकार हो जाता है, तो कभी नेता शाही का। वास्तव में (प्रथमतः संम्भालने वाले प्रधानाचार्य को) पूर्णत शक्ति हीन एवं पंगु बना दिया गया है। शिक्षकों की नियुक्ति में प्रधानाचार्य की भूमिका बिल्कुल नहीं है, और शिक्षक को सेवा मुक्ति करने में अत्यन्त नगण्य है । जिसे कोई प्रबन्ध तन्त्र किसी भी स्थिति में नजरान्दाज कर सकता है।
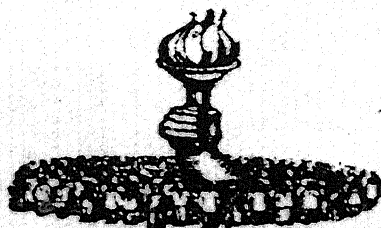
षष्टम्–अध्याय

अभिभावक-अध्यापक संघ की आवश्यकता-

शिक्षा में समाज की सहभागिता भारत के लोकतन्त्र के उदय से ही अनुभव की जा रही है। उसे विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न शिक्षा आयोगों ने निर्दिष्ट किया है। किन्तु इसकी सबलतम् अभिव्यक्ति राष्ट्रीय शिक्षा आयोग सन् 1968 में अवधारित की गई। सम्पूर्ण राष्ट्र में शिक्षा की समान संरचना को लक्ष्य कर, सभी राज्यों में 10+2+3 की प्रणाली को मान लिया। जो कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूल भूत उपलब्धि थी। साथ ही साथ माध्यमिक स्तर पर विज्ञान एवं गणित को अनिवार्य विषय बनाना, और कार्यानुभव को महत्वपूर्ण स्थान देना, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की मौलिक उपलब्धि थी।

वर्ष 1976 का संविधान संशोधन जिसके द्वारा शिक्षा को राज्य सूची तक ही सीमित न रखकर समवर्ती सूची में शामिल किया गया, जो शैक्षिक संसार के लिये क्रांतिकारी कदम था। इस संशोधन में निहित है, कि शैक्षिक, वित्तीय तथा प्रशासनिक दृष्टि से, राष्ट्रीय जीवन से जुड़े हुए, इस महत्वपूर्ण मामलो में केन्द्र और राज्यों के बीच दायित्वों की नयी सह-भागिता स्थापित हो। शिक्षा के क्षेत्र में राज्यों की भूमिका और उनके दायित्वों में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं होगा। लेकिन केन्द्रीय सरकार निम्नलिखित विषयों में अब तक से अधिक जिम्मेदारी स्वीकार करेगी। शिक्षा के राष्ट्रीय, समाकलानत्मक (इन्ट्रीगेटिव) रूप को बल देना। गुणवत्ता एवं स्तर बनाये रखना। (जिसमें सभी स्तर, शिक्षकों के शिक्षण, प्रशिक्षण की गुणवत्ता, एवं स्तर शामिल है,) विकास के निमित्त जनशक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये शैक्षिक व्यवस्थाओं का अध्ययन और देख-रेख, शोध एवं उच्च अध्ययन की जरूरतों को पूरा करना, शिक्षा, संस्कृति तथा मानव संसाधन विकास के अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओ पर ध्यान देना और सामान्य तौर पर शिक्षा में प्रत्येक स्तर पर उत्कृष्टता लाने का निरन्तर प्रयास। समवर्तिता एक ऐसी भागीदारी है जो स्वयं में सार्थक व चुनौती पूर्ण है, और राष्ट्रीय शिक्षा नीति इसे हर मायने में पूरा करने हेतु उन्मुख रहेगी।

बालक की शिक्षा में परिवार का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है यह अमेरिका में हार्टशोर्न व मे तथा पेनोस डी. वार्डिस जैसे विद्वानों के अध्ययनों से पता चलता है। भारत में कुछ ऐसे अध्ययन छोटे पैमाने पर हुए जो परिवार के प्रभाव को व्यक्त करते है। परिवार के इस प्रकार के प्रभाव को व्यक्त करते है। परिवार के इस प्रकार के प्रभाव छः प्रमुख कारक है। प्रथम, परिवार ही बालक को इस संसार में प्राप्त करता है। द्वितीय, परिवार उस समय बालक को प्राप्त करता है-जबकि उसका व्यक्तित्व अत्यन्त लचीला होता है तथा इस कारण माता-पिता व संबंधी उस पर उसके शेष जीवन में अन्य व्यक्तियों द्वारा डाले गए प्रभावो की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभाव डाल सकते है। तृतीय, बाह्य विश्व में स्थापित किए गये सम्पर्को व प्रेम के बंधनों की अपेक्षा परिवार में स्थापित किए गए बंधन प्रायः अधिक दृढ़ होते है, अतः वे व्यक्तित्व को माड़ने या ढालने में अधिक समर्थ होते है। चतुर्थ, परिवार के सम्पर्क अधिक समय तक स्थायी रहते हैं, पंचम बाह्य विश्व में स्थापित किए गए कार्यो की अपेक्षा व्यक्ति द्वारा परिवार में किए गए कार्य अधिक अविशेषीकृत, अनौपचारिक व सामान्य होते है। छठे,

बालक की अधिकतर आवश्कताएं परिवार में ही पूर्ण होती है अतः यह स्वाभाविक हैं कि यह अपने माता-पिता पर ही अधिक निर्भर हो व उनके व्यवहार का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूपों में अनुकरण कर। इसलिए सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री बोगार्ड्स ने ठीक ही लिखा है कि, " शिक्षा परिवार में केन्द्रित होती है तथा यहीं पर नैतिक अनुशासन शिक्षा का मूल आधार बनता है।"

परिवार और शिक्षा के संबंध को कई रूपों व संदर्भो में व्यक्त किया जाता है, लेकिन हम यहाँ इसके कुछ प्रमुख रूपों का संक्षिप्त विश्लेषण करेंगे, क्योंकि भारतीय समाज में इतने अधिक प्रकारों समुदायों, वर्गो, दशाओं आदि के परिवार मिलते है कि उन सब की विवेचना करना यहाँ सम्भव नहीं है। हमारे विचार से हमें अग्रांकित संदर्भो में इस संबंध को व्यक्त करना ही अधिक उचित होगा।

(1) परिवार और समाजीकरण।
(Family and Socialization)

(2) परिवार और उपलब्धि-प्रेरणा व महत्वाकांक्षाएं।
(Family , Achievement Motivation and Aspiration)

(3) परिवार और शिक्षा सुविधाएं।
(Family and Educationl facilities)

(4) परिवार और बाल अपराध।
(Family and Juvenile Delinquency)

(5) परिवार और भाषा सीखना।
(Family and Language learning)

(6) परिवार और विशेष समूहों के बालक।
(Family and Special groups of childern Genius, Back-Word, Deaf and Dumb, Blind, Other handicapped childern)

(7) परिवार और व्यवसास संबंधी शिक्षा।
(Family and Vocational / Occupational Education)

(8) परिवार, स्वास्थ व शिक्षा।
(Family, Health and Education)

(9) परिवार और शिक्षा की किस्म।
(Family and Quality of Education)

(10) परिवार और सामाजिक संबंध।
(Family and Social Relationship)

(11) परिवार अशांति और शिक्षा के अप्रकार्य।
(Family Disorganization and Disfunctions of Education)

(12) संरक्षकों व शिक्षकों का सम्पर्क।
(Parent - Teacher Association)

इन पक्षों का विश्लेषण करने में हम ग्रामों तथा नगरों के परिवारों, सवर्णों, हरिजनों, जनजातियों व पिछड़े वर्गो के परिवारों अल्पसंख्यकों, उच्च वर्ग, मध्यम व निम्न वर्ग के परिवारों तथा शरणार्थियों के परिवारों को विशेष रूप से अपने ध्यान में रखेगे।

परिवारों में शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं कितनी उपलब्ध है, इसके संबन्ध में भी कई महत्वपूर्ण समाजशास्त्री प्रेक्षण (Observations) प्रस्तुत किए जा सकते है। भारत के अधिकतर परिवारों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर है कि वे अपने बालकों के लिए न तो घर में उपयुक्त फर्नीचर, पुस्तकें, खेलकूद के साधन, यन्त्र, मानचित्र, चित्र-संग्रह आदि खरीद कर अपने परिवार में उचित शैक्षणिक वातावरण को निर्मित कर पाते है, और न उन्हें पाठशाला के अध्यापकों द्वारा नित्य मंगवाई जाने वाली विविध प्रकार की स्टेशनरी, खेलकूद, भ्रमण, पुस्तकालय, दान आदि से सम्बन्धित शुल्क ही प्रदान कर सकते है। इसका परिणाम यह होता है कि एक ओर तो घर में बालकों में शैक्षिक अभिरूचि उत्पन्न नहीं हो पाती और बालकों को पाठ्शालाओं व महाविद्यालयों में प्रचलित सामाजिक अन्यायों तथा अतार्किक प्रवृत्तियों तथा चिन्तित रहते है।

क्या वास्तव में अधिकांश परिवार बालकों को यथोचित सुविधाएं प्रदान नहीं कर सकते है? इस प्रश्न का सही उत्तर केवल मात्र "हाँ" कह देना नहीं हो सकता। जब अधिकांश परिवारों में पिता व अन्य सदस्य पूजा-पाठों, बीड़ी-सिगरेट, तम्बाकू, शराब, चाय, कहवा, फैशनेबल बुशर्टो, काले चश्मों, जूतों, कीमती फर्नीचर, सिनेमा, मेलों, मृत्यु, विवाह के अवसरों पर दिए गए भोजों आदि पर बहुत धन व्यय करते हुए देखने में आते है, और जब आजकल हम अशिक्षित किसानों को डाकखानों और बैंकों में नोटों की गड्डियां जमा करवाते हुए देखते है, तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि वे परिवार अपने बालकों को समुचित शिक्षा सुविधाएं प्रदान करने में असमर्थ है? वास्तव में सही तथ्य तो यह है कि हमारे अधिकांश माता-पिताओं की दृष्टि में बालक की शिक्षा को वह प्राथमिकता प्राप्त नहीं होती जो कि उसे मिलनी चाहिए। माध्यम वर्ग के परिवारों में ही यह अधिकतर देखने में आता है कि माता-पिता कई प्रकार से अपना पेट काट कर भी अपने बालकों को उत्तम शिक्षा दिलवाने का प्रयास करते है। अधिकतर परिवारों में आर्थिक समृद्धि होने पर भी उचित शैक्षिक वातावरण का निर्माण करने का ज्ञान माता-पिताओं में नहीं होता। बनियों तथा अन्य व्यापारी जातियों के परिवारों में खाने-पीने, चाट, कुल्फी, पहनावे साज-श्रृगांर तथा गहनों, फर्नीचर आदि पर तो पानी की तरह पैसा बहाया जाता है, लेकिन उन्हें बालोपयोगी साहित्य व शैक्षिक खेलों की सामग्रियों को खरीदने का ज्ञान नहीं होता। अधिकांश भारतीय परिवारों में ज्ञान अथवा शिक्षा के वातावरण का अभाव होता है, विशेषकर अधिकांश भारतीय स्त्रियों में यह अभाव होता है।

क्योंकि वे अशिक्षित होती है। वे बालकों को घर से अलग-अलग पुस्तकें रखने, पढ़ने का स्थान नहीं देती, उनकी सही प्रकार से पुस्तकें रखने, पढ़ने, गृहकार्य करने आदि में न तो मार्गदर्शन ही कर पाती है, और न कोई सहायता दे पाती है। हमारे परिवारों में जैसा कि नीरद चौधरी ने ठीक ही लिखा है, चाहे जब बिना पूर्ण सूचना दिए रिश्तेदार व मित्र आ टपकते है, और हमारे छोट-छोटे घरों में भीड़ की सी स्थिति उत्पन्न कर देते है, जिसका सबसे बुरा प्रभाव बालकों पर पड़ता है, जो पढ़ रहे होते है। यह भी देखने में आया है कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को कम शिक्षा सुविधाएं दी जाती है।

लेखक ने दिल्ली की तीन पाठशालाओं के 200 विद्यार्थियों का एक समाज-शास्त्रीय अध्ययन 1969 में किया था।

उनमें 41.5 प्रतिशत के पिता सरकारी कर्मचारी प्रायः क्लर्क, असिस्टेंट आदि थे, 38 प्रतिशत छोटे व्यपारी, दुकानदार या स्वयं के काम-धंधो में लगे हुए लोग थे। 5.5 प्रतिशत कृषक थे, 3 प्रतिशत मजदूर थे तथा 12 प्रतिशत अन्य धंधे करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रायः वे सभी निम्न मध्यम तथा निम्न वर्ग के परिवारों से आए थे। उनसे प्राप्त तथा इस तरह के निम्नांकित अत्यन्त रोचक तथ्य बतलाए गए है –

(1) उत्तरदाताओं सहित प्रति परिवार में औसतन 5 भाई-बहिन थे। उनके संरक्षको की औसत मासिक आय 240 रु माहवार पाई गई थी। चूँकि दिल्ली जैसे महँगे नगर में यह बहुत ही कम है, यह भली भाँति अनुभव किया जा सकता है कि उन विद्यार्थियों को कितना अधिक आर्थिक अभाव सहना पड़ता रहा होगा।

(2) 90.5 प्रतिशत विद्यार्थियों के परिवारों में पिता ही मुख्य धन कमाने वाले व्यक्ति थे।

(3) 90 प्रतिशत विद्यार्थी भाग्यशाली थे, क्योंकि उनके दोनो संरक्षक माता और पिता जीवित थे।

(4) केवल 7 प्रतिशत विद्यार्थी ही अपने माता-पिता के साथ नहीं रह रहे थे, वे दिल्ली स्थित अपने अन्य रिश्तेदारों के साथ रह रहे थे।

(5) उनके परिवारों में शैक्षिक परम्पराओं का भान हमें उनके साक्षकर संबंधियों के बारे में इन आंकड़ो से हो सकता है। दादा 31 प्रतिशत, पिता 78 प्रतिशत, चाचा 62.5 प्रतिशत, बड़ा भाई 60.5 प्रतिशत, बड़ी बहिन 51.5 प्रतिशत, दादी 12.5 प्रतिशत, माता 54 प्रतिशत, चाची 41प्रतिशत, भाभी 27.5 प्रतिशत, छोटी बहिन 32.5 प्रतिशत।

(6) लगभग 20 प्रतिशत विद्यार्थी अपने वंशो में पढ़ने वाली प्रथम पीढ़ी के सदस्य थे।

(7) 63.5 प्रतिशत लड़कियों ने बताया कि उनकी माता की अपेक्षा पिता ही अधिक चाहते थे, जबकि 61.2 प्रतिशत लड़कों को उनकी माताएं ही अधिक चाहती है।

(8) लगभग 8 प्रतिशत लड़कियों के माता-पिता उन्हे अपनी सहेलियों के घर जाकर पाठशाला में दिया गया गृहकार्य करने से रोकती थी। लगभग 12 प्रतिशत लड़कियों को उनको घरों में उतना अधिक पढ़ने नहीं दिया जाता था जितना कि वे चाहती थीं। लगभग 16.4 प्रतिशत लड़कियों की यह शिकायत थी कि उन्हें खाना पकाने, कपड़े धोन, सफाई करने आदि घरेलू कार्यो में ही इतना अधिक व्यस्त रखा जाता था कि वे घर पर पढ़ाई लिखाई का काम करने का पर्याप्त समय ही नहीं पा सकती थी।

(9) लगभग 42 प्रतिशत उत्तरदाताओं को उनके पिता, 23 प्रतिशत को उनके अन्य बड़े सम्बन्धी, 12.5 प्रतिशत को बड़ी बहिनें, 11.5 प्रतिशत को उनकी माताएं, 4 प्रतिशत को प्राईवेट ट्यूटर घर पर पढ़ाते थे। 64.5 प्रतिशत विद्यार्थी घर पर सुबह 56 मिनट तथा शाम को 63 मिनट अर्थात कुल 2 घण्टे प्रतिदिन औसतन पढ़ते थे। ये विद्यार्थी छठीं से आठवीं कक्षाओं के थे, यह तथ्य स्मरणीय है।

(10) 79.1 प्रतिशत विद्यार्थियों ने बतलाया कि उनके पिता सदैव उन्हें कक्षा में प्रथम आने के लिए कहते रहते थे। 45प्रतिशत के पिता उनको हर समय पढ़ने तथा खेलों में समय नष्ट न करने को कहते रहते थे। 42 प्रतिशत विद्यार्थियों के पिता तो बस यहीं चाहते थे कि उनके बच्चे जैसे भी हो परीक्षाओं में सफल हो जाये, अर्थात् वे अपने बालकों की शैक्षिक उपलब्धियों के स्तरों में बहुत निराश हो चुके थे। 73.5 प्रतिशत पिता नगर के मध्यम वर्ग से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप बालकों को स्पष्टवादी बने रहने को कहते थे। 56 प्रतिशत के माता-पिता उन्हें सदा स्वस्थ रहो, योग्य बनो, प्रसन्न रहा करो आदि बातें प्रायः कहते थे। 15.5 प्रतिशत विद्यार्थियों के माता-पिता उन्हें जब पीटते थे जबकि वे पढ़ाई में आवश्यक पुस्तकें व स्टेशनरी खरीदने के लिए उनसे धन की मांग करते थे।

(11) 4 प्रतिशत विद्यार्थियों की आँखें कमजोर थीं, लेकिन उनके माता-पिताओं ने उन्हें चश्मा नहीं दिलवाया था।

(12) बालकों द्वारा अपने परिवार में कटु रूप से अनुभव किए जा रहे अभावों को जानने के लिए हमने उनके सम्मुख एक काल्पनिक परिस्थिति रखकर प्रश्न किया था।

"मान लो कि तुम्हें लाटरी के टिकट पर एक लाख रूपये का पुरूस्कार मिल जाए तो बतलाओ कि तुम उस धन में से कुछ भाग सर्व-प्रथम किस वस्तु को खरीदने व इच्छापूर्ण करने पर व्यय करोगे?"

इसके अनुसार में 22 प्रतिशत ने अपना मकान बनाने की इच्छा प्रकट की, 16.5 प्रतिशत ने कार खरीदने की, 8.5 प्रतिशत ने वस्त्र खरीदने की, 5 प्रतिशत ने मन्दिरों व भिखारियों को दान देने की, 6.6 प्रतिशत ने निर्धनों की सहायता करने की, 4.2 प्रतिशत ने स्वयं के खाने के लिए ऐसी मिठाइयों व भोजनों को खरीदने की इच्छाप्रकट की जिसे वे प्रायः अपने जीवन में नहीं खा पाए थें, 13 प्रतिशत अपनी उच्च शिक्षा पर उसे व्यय करने की सोच रहे थे। यह रोचक तथ्य प्रकश में आया कि मध्यम वर्ग के विद्यार्थियों को तो अन्य वस्तुओं की तुलना में कार की कमी ही सबसे अधिक खटक रही थी जबकि निम्न मध्यम तथा निम्न वर्गो के विद्यार्थियों को निजी मकान न होना तथा स्वयं के पास अच्छे वस्त्र, भोजन व शिक्षा सुविधाओं का अभाव ही खटक रहा था।

1962-63 में राजर्षि कॉलेज, अलवर में 1962 की वार्षिक परीक्षाओं में असफल हुए 75 विद्यार्थियों को असफलताओं के कारणों से सम्बन्धित अपने एक समाजशास्त्रीय सर्वेक्षण से लेखक ने यह खोज की, कि 24 प्रतिशत विद्यार्थियों के पास पढ़ने के लिए अलग कमरे नहीं थे, 28 प्रतिशत के मकानों के चारो ओर प्रायः बहुत अधिक शोरगुल रहता था, 8.5 प्रतिशत घरों में बिजली न थी, 16 प्रतिशत के पास घड़ी न थी, 16 प्रतिशत के पास पाठ्य-पुस्तकें तक न थीं।

इस सम्बन्ध में यह भी कहना आवश्यक है कि अधिकांश भारतीय माता-पिता बालकों को खाने-चाटने के लिए थोड़ा बहुत जेब खर्च तो देते रहते है, लेकिन वे प्रायः उनको नियमित रूप से स्वतंत्रतापूर्वक व्यय करने के लिए समुचित परिणाम में धन नहीं देते, जिससे युवा पीढ़ी के विद्यार्थी प्रायः चित्र, चिन्तित, रूष्ट तथा पढ़ाई-लिखाई में अनमने बने रहते हैं। परिवारों में बालकों को ऐसा प्रशिक्षण भी नहीं दिया जाता, कि किस प्रकार पुस्तकों व अन्य पाठ्य-पुस्तकों व अन्य पाठ्य-सामग्रियों को सावधानीपूर्वक रखा जाए, फटने टूटने पर कैसे ठीक किया जाए जिससे कि उनका अधिक समय तक उपयोग हो सके। आजकल पुस्तकों व स्टेशनरी के मूल्य बहुत बढ़ गए है तथा एक बार ही उन्हें खरीदना माता-पिताओं के लिए कष्टप्रद होता है, बार-बार वे उन्हें नहीं खरीद कर पाते और इसका परिणाम यह होता है कि बालकों की पढ़ाई में विघ्न पड़ जाते है।

यह शिक्षकों तथा समाज़-शिक्षा के प्रसारकों का कर्तव्य है कि वे माता-पिताओं का ध्यान विद्यार्थियों को शिक्षा, स्वास्थ्य व व्यक्तित्व के विकास में आवश्यक सुविधाओं को समुचित परिणाम में प्रदान करने की ओर जागृत करें। भारत जैसे देश में जहां 70 प्रतिशत जनता अभी भी अशिक्षित है तथा शेष 30 प्रतिशत शिक्षितों में से अधिकांश विद्यार्थियों की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं के प्रति असंवेदनशील हैं, यह समस्या वास्तव में गम्भीरता धारण किए हुए है। लेखक का कई वर्षो का यह अनुभव है कि अनुसूचित समुदायों के विद्यार्थियों को सरकार की ओर से दी जाने वाली वार्षिक छात्रवृत्तियों की धनराशि को प्रायः विद्यार्थी उचित पैतृक नियंत्रण न होने के फलस्वरुप घड़ियाँ, काले चश्मों, बुशर्टो, सैंडलों, बैग आदि शौकीन की वस्तुएं खरीदने में नष्ट कर देते है। इस सम्बन्ध में उनके माता पिताओं को सजग करना आवश्यक है।

कोठारी आयोग सन् 1966 से 1968 की संस्तुतियों के आलोक में शिक्षा प्रक्रिया में विद्यार्थियों के माता पिता का सहयोग प्राप्त करने के निमित्त उ0प्र0 सरकार के शिक्षा निदेशक डा0 एस0एम0 महरोत्रा ने सर्वप्रथम अभिभावक – अध्यापक सहयोग हेतु अपने अर्ध शासकीय पत्रांक / शिविर 22756, 836 दिनॉंक 26 सितम्बर 1975 द्वारा शासन से मिल कर एक योजना बनायी उसे 2 अक्टूबर 1975 (गॉंधी जयंन्ती) से लागू करने की इच्छा भी व्यक्त की। उक्त पत्र का मूलपाठ संलग्न किया जा रहा है।*

अभिभावक–अध्यापक सहयोग

डॉ0 एस0एन0 मेहरोत्रा
शिक्षा निदेशक उत्तर प्रदेश

अर्द्धशासकीय पत्रांक/शिविर 22756–836
शिक्षा निदेशक उत्तर प्रदेश

दिनॉंक लखनऊ सितम्बर 261975

प्रिय महोदय/महोदया

(1) माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थियों के माता–पिता का सहयोग प्राप्त करने के निमित शासन द्वारा एक योजना बनायी गई है। यह योजना इसके साथ संलग्न है। शासन ने इस योजना को 2 अक्टूबर 1975 महात्मा गॉंधी के जन्म दिवस में समस्त माध्यमिक विद्यालयों में कार्यान्वित किये जाने का निर्देश दिया है।

(2) आपसे अनुरोध है कि तत्काल अपने जिले के प्रधानाचार्यो/प्रधानाध्यापकों की एक बैठक बुलाकर इस योजना से परिचित करा दें, और उनसे अनुरोध करें कि 2 अक्टूबर 1975 से इनका कार्यान्वयन प्रारम्भ कर दे।

(3) कृप्या इसकी प्राप्ति स्वीकार करें।

भवदीय

ह0 अपठनीय

(श्याम नारायण मेहरोत्रा)

---

*शिक्षा निदेशक उ0 प्र0 डा0 एस0एन0 महरोत्रा का पत्र

माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थियों के माता-पिता के सहयोग प्राप्त करने के विषय में योजना-

(1) किसी भी शिक्षा व्यवस्था में विद्यार्थी, अध्यापक, अभिभावक महत्वपूर्ण अंग है। सामान्यतः अध्यापक और विद्यार्थी तथा विद्यार्थी और अभिभावक एक दूसरे के सम्पर्क में आते है, लेकिन अभिभावक और अध्यापक कम आते है। विद्यार्थियों में उनकी शैक्षिक व्यवस्था का प्रबन्ध करने और विद्यार्थी के शैक्षिक एवं चारित्रिक विकास करने के लिये यह आवश्यक है कि अभिभावक और अध्यापक भी एक दूसरे को अधिकाधिक सम्पर्क में लाये जाए।

(2) स्पष्ट है कि विद्यार्थी पर विद्यालय में बिताये गये छ : घण्टो की तुलना में शेष समाज के साथ बिताये गये इस समय की काफी छाप पड़ती है। उन्नत शिक्षा व्यवस्था स्कूल के बाहर बिताये गये इस समय को अपनी नजरों से ओझिल नहीं कर सकती। यही नहीं हमारे विद्यार्थीयों में काफी संख्या उन लोगों की है, जिनके परिवार में शिक्षा का प्रसार पहली बार हो रहा हो। अतः अभिभावक को यह बताये जाने की आवश्यकता है, कि स्कूल में भेजे गये बालक की शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्हें क्या करना है। अभिभावक को भी बालक के विकास के साथ समन्यवय करने की आवश्कता है। अभिभावक अध यापक समिति की पृष्ठ भूमि में है।

(3) उपरोक्त पृष्ठ भूमि में प्रदेश के प्रत्येक माध्यमिक विद्यालयों में अभिभावक-अध्यापक समितियाँ बनायी जावें, इन समितियों के उद्देश्य निम्नलिखित होंगे।

(अ) अध्यापक और अभिभावक के परस्पर सम्पर्क के सहयोग से विद्यार्थियों के हितों की वृद्धि करना और उनका चारित्रिक विकास करना।

(ब) परिवार तथा विद्यालय के बीच निकट सहयोग उत्पन्न करना ताकि विद्यालय के नियमित कार्य में सुधार तथा उसके विकास की योजना में सहयोग प्राप्त हो सकें।

(स) अध्यापकों और अभिभावकों में सहयोग और भागीदारी का भाव उत्पन्न करना, ताकि बालक को पढ़ने के उद्देश्य को पूरा किया जा सकें।

(4) विद्यालय की शिक्षा के सम्बन्ध में अध्यापकों एवं अभिभावकों में अच्छी समझ पैदा करना ताकि उनकी आवश्यकताओं और समस्या के सम्बन्ध में सहमति हो सकें।

(5) प्रत्येक राजकीय तथा अराजकीय विद्यालय में अभिभावकों और अध्यापकों की एक साधारण सभा (जनरल बोर्ड) बनायी जावें, जिसमें विद्यालय के सभी अध्यापक रहेगें। तथा अभिभावकों का नामांकन निम्न रूप में किया जायें।

(अ) प्रत्येक कक्षा में जिन विद्यार्थियों का परीक्षा फल उत्तम रहा हो, उन विद्यार्थियों के अभिभावकों का नामांकन।

(ब) प्रत्येक कक्षा में जिन विद्यार्थियों की फीस माफ हो उनमें सबसे अधिक निर्धन छात्र के अभिभावक का नामांकन, चाहे यह अनुसूचित अथवा जनजाति का सदस्य हो।

(स) पाँच विशिष्ट अभिभावक इस वर्ग के अवकाश प्राप्त व्यक्ति अधिकाशतः रखा जाये। जनरल बोर्डो के द्वारा एक कार्यकारिणी का चुनाव कर लिया जाय, इस कार्यकारिणी का अध्यक्ष विद्यालय का प्रधान होगा, जो कोषाध्यक्ष का भी कार्य करेगा। कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या अध्यक्ष निश्चित करेगा।

(5) अध्यापकों-अभिभावकों की साधारण सभा की बैठक शिक्षा सत्र में कम से कम तीन बार होगीं। यह बैठक निम्नलिखित अवसरों पर होगी।

1- अध्यापक दिवस (पाँच सितम्बर)।

2- महात्मा गाँधी दिवस (दो अक्टूबर)।

3- विद्यालय के संस्थापक दिवस अथवा वार्षिक समारोह अथवा खेलकूद सप्ताह के अवसर पर।

शिक्षा सत्र में कम से कम एक बार अभिभावकों एवं अध्यापकों के प्रतिनिधियों की बैठक राज्य स्तर पर किसी पूर्व निश्चित स्थान पर होगी। जिनकी व्यवस्था शिक्षा निदेशक के तत्वावधान में उनके द्वारा की जायेगी।

(6) इन समितियों को यह देखना होगा कि, विद्यालय में किन-किन वस्तुओं या साज-सज्जा या उपकरणों की आवश्यकता है। विद्यालय में पीने के पानी, नल, शौचालय, सफाई एवं स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में क्या-क्या व्यवस्था करनी आवश्यक होगी ? विद्यालय के उपयोग हेतु विभिन्न वस्तुएँ जैसे घड़ी, टाट-फट्टी, फर्नीचर आदि की व्यवस्था, दान में दी गई वस्तुओं द्वारा की जा सकती है। किन्तु दान के लिये किसी प्रकार का किसी व्यक्ति पर दबाब नहीं डाला जायेगा। दान केवल वस्तुओं के रूप में लिया जा सकेगा। नगदी दान लेना वर्जित होगा, इन समितियों को किसी विशेष नगद धनराशि की आवश्यकता प्रतीक नहीं होती है, किन्तु विद्यार्थियों के सांस्कृति कार्यक्रमों द्वारा कुछ धन की व्यवस्था की जा सकेगी। राज्य सरकार द्वारा इस हेतु कोई अनुदान या आर्थिक सहायता नहीं दी जायेगी, समिति द्वारा एकत्रित धन तथा व्यय का भी नियमित रूप से कानूनी आडिट होगा।

(7) विद्यार्थियों में सामान्य ज्ञान एवं विषय ज्ञान का मूल्यॉकन करने हेतु अभिभावकों को महीने में एक बार अवसर प्रदान किया जाये, कि वे कक्षा में जाकर विद्यार्थियों से प्रश्न उत्तर कर सकें। तथा अध्यापक की शिक्षण पद्धति या नियंत्रण आदि के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से अपने विचार प्रधान को दे सकें।

(8) प्रत्येक विद्यालय में एक पुस्तक बैंक स्थापित किया जाये, ताकि निर्धन छात्रों को पुस्तक उपलब्ध की जा सकें।

उक्त पत्र में कुल आठ विचार बिन्दु थे–

(1) अध्यापक–अभिभावकों को निकट लाने की उपयोगिता।

(2) विद्यार्थी विद्यालय में 6 घंटो और शेष 18 घंटे समाज में व्यतीत करता है। अतः उसकी 1/4 क्रियाएँ विद्यालय में और 3/4 विद्यालय के बाहर जिन पर शिक्षकों अतिरिक्त अभिभावकों का प्रभाव रहता है। अतः छात्र के समन्वित के लिये दोनों की समझदारी आवश्यक है।

(3) अध्यापक अभिभावक समिति के उद्देश्यों, गठन एवं कार्य संचालन आदि का उल्लेख है। सातवें बिन्दु में अभिभावकों द्वारा महीने में एक बार, अभिभावकों के द्वारा विद्यार्थियों से प्रश्नोत्तर कर उनकी परीक्षा लेने का अधिकार भी दिया गया था। तथा आठवें बिन्दु में विद्यालय में बुक बैंक की स्थापना करने का भी सुझाव था।

इस पत्र ने उ0प्र0 प्रधानाचार्य परिषद ने अपने ग्रीष्म कालीन शैक्षिक विचार गोष्ठी ऋर्षिकेश दिनाँक 6,7,8 जून 1986 को श्री शरदेन्दु उप शिक्षा निदेशक शिविर कार्यालय की अध्यक्षता में इसकी नियमावली आदि को एक सर्व–सम्मत स्वरूप प्रदान किया। जिसे प्रधानाचार्य परिषद् ने अपने प्रस्ताव संख्या 14 में निम्न लिखित शब्दों के द्वारा स्वीकार किया।

"विद्यालय के सुचारु संचालन, छात्रों पर अधिकाधिक नियंत्रण, संस्थाओं के लिये अधिक संसाधन जुटाने अर्थात् कुल मिलाकर संस्याओ को सामाजिक चेतना का केन्द्र बनाने के लिये अध्यापक अभिभावक संघो को व्यवस्थित किया जाय, और इस सम्बन्ध में शिक्षा निदेशक के उपरोक्त अर्द्धशासकीय पत्र दिनांक 26-9-1975 का आधार बनाकर इसे व्यवहारिक स्वरूप दिया जाय, तथा विनियमों में सुधार कर, इसे व्यवहारिक स्वरूप प्रदान किया जाय। जन सहयोग के अभाव में आज किसी व्यवस्था को चलाया जाना असंभव है, और जनहित के लिये शिक्षा तो जन सहयोग से ही चलायी जा सकेगी।"

(अ) लोक संग्रहवादी शैक्षिक पर्यावरण के निर्माण में भूमिका–

वैदिक कालीन युग से शिक्षा जन कल्याण का प्रतीक मानी जाती रही है। प्रारम्भ में, शिक्षा को व्यवसाय के लिये न मानकर, शिक्षा को लोक कल्याण कारी माना जाता था। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है–

"शिक्षा जानकारियों का समुच्चय नहीं है, बल्कि शिक्षा व्यक्ति के चरित्र उत्थान तथा उसमे नैतिक उत्कर्ष का प्रतीक है। शिक्षा जानकारियों का समुच्चय होती तो, पुस्तकालय ही सबसे बड़े ऋषि और शब्द कोष ही सबसे बड़े ऋषि होते।"

आज अखिल विश्व भौतिक संसाधनों की आपा–धापी में लगा हुआ है, देखा यह गया है, कि यूरोपीय देशों में लोग इंजीनियर बनते है, डॉक्टर बनते है लेकिन अपने पूरे जीवन भर, एक अच्छे नागरिक नहीं बन पाते है। लंदन से प्रकाशित होने वाले "The-Sun" के अनुसार–

''आज यूरोपीय देशों में आवश्कता इस बात की नहीं है, कि हम इस चीज का मूल्यांकन करें कि कितने डॉक्टर और इंजीनियर हम बना पा रहे है, बल्कि आवश्कता इस बात की है, कि हम मानवीय संवेदना के धरातल पर थोड़े से भी , सदाचरण वाले नागरिक तैयार नहीं कर पा रहे है।''

आज भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में हम देखते है, कि शिक्षा शास्त्री, मनोविज्ञानी, समाज सेवी, राजनेता, अभिभावक वर्ग इस बात के लिये चिन्तित है, कि हम अपने देश में किस प्रकार लोकसंग्रहवादी शैक्षिक पर्यावरण तैयार कर सकते है? जहॉं तक मैंने वैयक्तिक रूप से लोकसंग्रहवादी शैक्षिक पर्यावरण का चिन्तन किया है, मनन किया है, इसकी गहराई में पहुँचा हूँ, मैंने यही अनुभव किया है, कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था का जो पाश्चाती करण हो रहा है, उसमें कहीं न कहीं हमारे नैतिक मूल्य, नैतिक प्रतिमान, उत्कर्षी बिम्ब सभी कुछ अपने धरातल से उखड़ते हुए दिखाई दे रहे है।

पिकनिक स्पोटों पर पाश्चॉत्य ध्वनि पर थिरकते हुए देश के नौनिहाल, देश की संस्कृति, देश के सांस्कृतिक आचरणों को अपने पैरों के नीचे कुचल रहे है। जिससे न तो देश का ही भला होने वाला है, न आने वाली संस्कृति का।

सन् 1992 में हुए सर्वेक्षण के अनुसार नैतिक मान्यताओं की जगह, वेशर्मी, उदंडता, अराजकता आदि हमारे ड्रिंग रूम से होते हुए, हमारे बैड रूम तक घुस गये है। आज के परिवर्तनशील वातवरण में लोग अपने आप को असुरक्षित महसूस करने लगे हैं। और यही असुरक्षा, शैक्षिक पर्यावरण में लोक संग्रह की विचार धारा को विलग करती है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि अभिभावक और अध्यापक दोनों ही विद्यालय में, समाज में, लोकसंग्रहवादी शैक्षिक पर्यावरण के निर्माण में अपनी भूमिका समग्र रूप से निर्वाहन करें।

(ब) भातिकै संसाधन जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका–

राजकीय अनुदानों की अति–अल्पता एवं समाज के सम्पन्न वर्ग की दानशीलता के प्रति विमुखता ने विद्यालय के भौतिक विकास को अपूरणीय क्षति पहुँचाई हैं। इसके अतिरिक्त एक ओर तो विद्यालय की भौतिक आवश्यकतायें इलैक्ट्रोनिक्स के इस युग में बढ़ती ही चली गई। टैली एजूकेशन का विकास भी हुआ तथा दूसरी ओर बाजार भावों ने वस्तुओं के मूल्य में आशातीत वृद्धि कर दी। परिणमयतः उपलब्ध संसाधन भी क्षीण होते चले गये।

शिक्षा में होने वाली संख्यात्मक विकास दर ने व्यवस्था को और चरमरा डाला। जिसका स्पष्ट अनुभव वर्तमान–विद्यालयों की दुर्दशा में होने लगी। कक्षा में छात्रों की अनियत्रिंत भीड़, अध्यापकों का अभाव, फर्नीचर की कमी, कक्षा भवनों की कमी उपलब्ध टूटी फूटी सामग्री की मरम्मत आदि की क्षमता में भी ह्रास होता चला गया। अभावों की इस व्यापकता ने शिक्षकों में उत्साह–हीनता, छात्रों में अनुशासन क्षीणता, प्रबन्ध तन्त्रो में उदासीनता और विभाग में असहायता की स्थिति लायी। संक्षेप में भौतिक संसाधनो के अभाव में शिक्षा की विकास गति को पूर्णता पंगु बना दिया।

उपरोक्त दुर्व्यवस्था से मुक्ति पाने के लिए अध्यापक अभिभावक संघ की स्थापना ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। राष्ट्रीय शिक्षानीति 1986 में जनता की सहभागिता एवं संसाधनों को लक्ष्य कर निम्न उद्‌गार व्यक्त किए गये।

"Resources, to the extent possible, will be raised by mobilising donotions, asking the benificiary communities to mantain school Building and supplies of some corumables, raising fees at the higher lovers of edication and effecting some saning by the efficient use of facilities. ....

All these measures will be taken not only to reduce the burden on state resources but also to creat a greate sense of sesponsibilities with in the education system.

उक्त अवधारणा को मूर्तरूप एवं व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने हेतु अध्यापक – अभिभावक संघ की स्थापनार्ये की गई है। इन संस्थाओं ने दानाद्रि प्राप्त कर विद्यालय की विभिन्न आवश्यकताओं की यत्किाचिंत पूर्ति भी की है। शिक्षा निदेशक उ0प्र0 डॉ0 एस0 एन0 महरोत्रा ने अपने अर्धशासकीय–पत्रांक / शिविर 22756 – 836, दिनॉक 26 सितम्बर 1975 में “ अध्यापक–अभिभावक समितियॉ बनाने का निर्देश निर्गत किया था जिसमें विद्यालय के संसाधनों की पूर्ति हेतु निम्नांकित निर्देश दिये गये थे।

शिक्षा–निदेशक के पत्र का 6 वॉ अनुच्छेद दृष्टव्य है” इन समितियों को यह भी देखना होगा कि विद्यालय में किन–किन वस्तुओं या साजसज्जा या उपकरणों की आवश्यकता है। विद्यालय में पानी, पीने का नल, शौचालय, सफाई एवं स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में क्या–क्या व्यवस्था करना आवश्यक होगी? विद्यालय के उपयोग हेतु विभिन्न वस्तुएं जैसे घड़ी, टाट–फट्टी, फर्नीचर आदि की व्यवस्था दान में प्राप्त वस्तुओं द्वारा की जा सकती है। किन्तु दान के लिए किसी प्रकार का किसी व्यक्ति पर दबाव नहीं डाला जावेगा। दान केवल वस्तुओं के रूप में लिया जा सकेगा नगदी में दान लेना वर्जित होगा।

उपरोक्त निर्देशों में दान लेना तो ग्राह्य माना गया किन्तु उसे नगदी रूप में लेने की मनाही की गई। शिक्षा निदेशक अपनी समिति शक्ति में प्रतिबन्धित सा प्रतीक होता है। उक्त प्रतिबन्धों को तोड़ने का कार्य माध्यमिक शिक्षा परिषद् ने अपनी विनियमावली सं0 9/450 दि0 27 सितम्बर 1986 के द्वारा विधि स्थापना के साथ किया। जो दिनॉक अक्टूबर के गजट भाग 4 में

प्रकाशित की गई। उक्त विज्ञप्ति के कतिपय विनियमों को अपने अर्धशासकीय पत्र संस्था 686/15-14/88/42/3/86 दिनाँक 7 अप्रैल 88 द्वारा इण्टरमीडिएट शिक्षा अधिनियम की धारा 16 (1) अर्न्तगत संशोधन कर दिया गया है। वर्तमान में यही संशोधित रूप हर विद्यालय में कार्यरत है।

आर्थिक एवं भौतिक संसाधन जुटाने के लिये जो परिवर्तन किये गये उनका उल्लेख अध्याय 4 में "एशोसियेशन के वित्तीय संसाधन शीर्षक के अर्न्तगत अनुच्छेद 26 एवं 27 में किया गया है।"

अनुच्छेद 26 में नया संसोधन ये हुआ कि एशोसियेशन की कार्यकारणी संस्था के लिये समाज के उदार एवं सम्पन्न व्यक्तियों से स्वेच्छिक दान लेने के लिये अधिकृत होगी। अनुच्छेद 27 को चार उपअनुच्छेदों में विभाजित किया गया है।

प्रथम उपअनुच्छेद में दान प्राप्ति का तरीका बताया गया है। और निर्देश दिया गया है कि "दान प्राप्त करने के लिये संस्था के एशोसियेशन के नाम पर छपी हुई रसीद दी जायेगी। इस रसीद पर कार्यकारणी के संरक्षक और अध्यक्ष के हस्ताक्षर होगे।"

दूसरे उपअनुच्देद में कोष के रख रखाव और उनकी संचालन प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। जिसके अनुसार " एशोसियेशन कोष के नाम पर अनुसूचित बैंक अथवा पोस्ट ऑफिस मे खाता खोला जायेगा। जिसमें प्राप्त धनराशि को जमा किया जायेगा। खाते का रख रखाव संरक्षक द्वारा किया जायेगा। 500/- रू0 से अत्याधिक धन राशि का आहरण कोषाध्यक्ष और संरक्षक के संयुक्त हस्ताक्षर से किया जायेगा। इससे अधिक धनराशि का आहरण संरक्षक और अध्यक्ष के संयुक्त हस्ताक्षर से किया जायेगा।"

उक्त उप अनुच्छेद में खाता संचालित करने के लिये अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष और संरक्षक निर्धारित किये गये हैं। 500/- रू0 की राशि से कम तथा 500/- रू0 की राशि से अधिक भुगतान के दोनों ही स्थितियों में सरक्षक के संयुक्त हस्ताक्षर करते हेतु अधिकृत किया गया है। जबकि कोषाध्यक्ष को 500/-रू0 से कम तथा अध्यक्ष को 500/- रू0 से अधिक निकालने हेतु संयुक्त हस्ताक्षरों की शक्ति दी गई है।

संरक्षक को धनराशि के आहरण मे प्रत्येक स्तर पर अधिकृत किया गया है।

तीसरे उपअनुच्छेद में संचित कोष के व्यय की व्यवस्था निर्धारित की गई है। उल्लेख है कि "एसोसियेशन कोष में जमा धनराशि का उपयोग कार्यकारणी द्वारा संस्थाओं की समस्याओं का निराकरण, आवश्यकताओं की पूर्ति एवं विकास कार्य में किया जायेगा। उक्त अनुच्छेद में धनराशि के उपयोग हेतु तीन मार्ग दर्शक के रूप में निर्धारित किये गये है।

1– संस्था की समस्याओं का निराकरण।
2– आवश्यकताओं की पूर्ति।
3– विकास कार्य।

यह तीनों बिन्दु इतने व्यापक और लचीले हैं, कि विद्यालय पर होने वाला कोई व्यय वैद्य माना जा सकता है। जैसे– ''संस्था की समस्याओं का निराकरण'' इस शीर्षक के अर्न्तगत संस्था के सभी विवाद (सिविल डिसप्यूटस) विद्यालय सम्पत्ति की आकस्मिक क्षति, छात्र और अध्यापकों के आन्दोलन से उत्पन्न हुई कोई भी परिस्थिति, किसी विभागीय आदेश के अनुसार अध्यापक एवं कर्मचारी की व्यवस्था आदि पर हुआ कोई भी व्यय मान्य माना जाना चाहिए। संस्था पर आरोपित किसी भी प्रकार का आर्थिक दण्ड आदि का भुगतान इसी बिन्दु के अर्न्तगत किया जा सकता है।

इसी प्रकार दूसरा बिन्दु भी अस्पष्ट एवं अति व्यापक है, आवश्यकताओं की पूर्ति के अर्न्तगत भवन, फर्नीचर, उपकरण पुस्तकादि, बिजली, पंखे, स्टेशनरी, मार्ग, भत्ता, अध्यापकों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नियुक्ति वेतनादि मरम्मत, शौचालय निर्माण आदि पर व्यय किया जा सकता है।

तीसरे बिन्दु के अर्न्तगत, विकास कार्य को जोड़ा गया है। जिसके अन्तर्गत विद्यालय का भौतिक विकास, नव निर्माण, नये–नये उत्पादन और नवस्थापनाओं को समाहित किया जा सकता है। छात्र संख्या के बढ़ते हुए स्वरूप को नवीन सुविधाएँ जुटाना भी विकास कार्य के अर्न्तगत आता है। नये कक्षाओं का संचालन, नये विषयों की मान्यतायें पाठ्क्रमों का संयोजन विकास कार्य के अर्न्तगत समादिष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार उपरोक्त तीन बिन्दुओं में, विद्यालय की सम्पूर्ण भौतिक आवश्यकताओं की पूर्तियों को स्थान दिया गया है।

अध्याय 4 उपनियम संख्या 27 के चौथे अनुच्छेद में विभाग का हस्तक्षेत निर्धारित करते हुए, जिला विद्यालय निरीक्षक को उक्त कोष का आय–व्यय देखने का आधिकार दिया गया है। इस अनुच्छेद में स्पष्ट किया गया है ''एसोसियेशन को उसमें जमा धनराशि तथा उसमें से किये गये व्यय का लेखा –संरक्षक के पर्यवेक्षण में एक रोकड़ वही में रखा जायेगा। वह रोकड़–वही माँगे जाने पर जिला विद्यालय निरीक्षक को संरक्षक के माध्यम से प्रस्तुत की जायेगी।'' इस प्रकार संरक्षक की भूमिका दान की रसीद पर हस्ताक्षर से लेकर और रोकड़ वही को जिला विद्यालय निरीक्षक के सम्मुख प्रस्तुत करने तक उत्तरदायी होगा।

उक्त अध्याय 4 के 27 अनुच्छेद में लिखा परीक्षा का विस्तृत वर्णन निम्न लिखित शब्दावली में किया गया है। ''प्रत्येक वर्ष लेखों का संप्रेक्षण करने के लिये कार्यकारणी द्वारा किसी जानकार अभिभावक को नियुक्त किया जायेगा। जो कार्यकारिणी का सदस्य नहीं होगा वह नियुक्ति प्रत्येक वर्ष सितम्बर मास तक की जायेगी। और प्रत्येक मास के लेखों संप्रेक्षण साथ–साथ कराया जायेगा। सामान्य सभा में उक्त लेखा एवं संप्रेक्षण आख्या का विवरण एसोसियेशन के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा।

उ0प्र0 में विभिन्न विद्यालयों में पी0टी0ए0 के कोष से निम्नलिखित कार्य सम्पादित किये है।

1- भवन की कमी की पूर्ति।
2- शौचालयों का निर्माण।
3- पेय जल की व्यवस्था।
4- अध्यापकों रिक्त पर अस्थायी नियुक्तियाँ।
5- फर्नीचर निर्माण।
6- प्रयोगशाला के उपकरणों की व्यवस्था।
7- बिजली, पानी, टेलीफोन आदि की व्यवस्थाएँ।
8- रैलियाँ एवं उत्सवों की आयोजनों में व्यय।
9- छात्रों के परिभ्रमण एवं मनोरंजनों पर व्यय।
10-विभिन्न विषय समितियों को योगदान।
11-नये पाठ्यक्रम, उच्च कक्षाओं की मान्यता आदि पर व्यय।
12-छात्रों के सम्मानीय अध्यापकों को सम्मानित करने पर व्यय।
13-छात्रों को पुरुष्कृत करने पर व्यय।

उ0प्र0 से इतर राज्यों में एशोसियेशन के कोष से और मदों में भी व्यय किया गया है। जैसे-

(1) गुजरात में छात्रों को दोपहर का भोजन (Mid-day-Meal) दिया गया।

(2) कर्नाटक में एशोसियेशन के कोष से छात्रों की शैक्षिक यात्राएँ और परिभ्रमण संचालित किये गये।

(3) बिहार में एसोसियेशन के कोष से विद्यालय के गणवेश बनाये गये।

विभिन्न प्रान्तों में अभिभावक अध्यापक एशोसियेशन ने स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार एशोसियेशन के कोष को व्यय किया हैं।

(स) विद्यार्थियों में पारस्परिक हीनता की भावना के तिरोहण एवं समान गणवेश के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान-

भारत वर्ष में वैदिक काल में आश्रम व्यवस्था के अर्न्तगत गुरुकुल में आश्रम के समस्त छात्र भौतिक संसार से हटकर एक ही गणवेश धारण कर एवं आडम्बर रहित साज-श्रृंगार के साथ ही शिक्षा ग्रहण करते थे। जो कि भौतिक संसाधनों से रहित हुआ करता था। यही परम्परा का निर्वाहन वैदिक काल से आज तक हो रहा है। एक ही प्रकार की गणवेश धारण करने से छात्रों में समानता का भाव उत्पन्न होता हैं। जो उनके समानता वादी दृष्टिकोण को एक व्यापक स्वरूप प्रदान कर, मार्क्सवाद (साम्यवाद) को एक सबल आलम्ब प्रदत्त करती है। चूँकि भारत में अधिकांशतः गरीबी का बाहुल्य है।

*इसीलिये यहाँ के सामान्य स्तरीय जीवन यापन करने वाले लोग या गरीबी को स्तर तक जीवन यापन करने वाले लोग, अपने पाल्य छात्र की शैक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति में असमर्थ है, या फिर पाल्य की शैक्षिक आवश्यकताओं से अधिक अनिवार्य या प्राथमिकता वह पाल्य एवं परिवार की उदर पूर्ति के लिये देते है। इसे भारत वर्ष के सामान्य एवं सामान्य से कम स्तरीय नागरिक या ग्रामीण अभिभावक गणवेश इत्यादि महँगी वस्तुऐं छात्र को उपलब्ध कराने में असमर्थ है।

अतः बिहार और अब सम्पूर्ण भारत में कहीं-कहीं अभिभावक अध्यापक एशोसियेशन समाज के उच्च स्तरीय (कुलीन) वर्गो से धन एकत्रित कर, गरीब छात्रों को गणवेश बनवाकर प्रदान कर देती है। जिससे बालकों के अन्दर एक साम्यवादी प्रकृति को बोध हुआ है। और हमारा छात्र हीन भावना का शिकार होने से बच गया है।

(द) शैक्षिक परिभ्रमण एवं स्वस्थ्य मनोरंजन में योगदान-

छात्र के शैक्षिक जीवन में पाठ्य सहगामी क्रियाओं का एक अपना अलग ही स्थान है। जब तक छात्र सोसल एनवायरोनमेण्ट में प्रवेश नहीं करता है तब तक उसका शैक्षिक ज्ञान अपूर्ण रहता है।

छात्र व्यवहारिक रूप में अध्ययन के साथ सामाजिक परिवेश के साथ पूर्ण परिपक्वकता को प्राप्त होता है। छात्र का सामाजिक परिवेश पर्दापण जन्म से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर्याप्त तक चलता रहता है। बालक जिस व्यवहारिक एवं सामाजिक विषय वस्तु के साथ साक्षात्कार करता है, तो वह उस तथ्य की परिपक्वकता ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ-

(1) हमारे आपके परिवार में जब कोई बच्चा ज्यादा शैतानी करता है तो उसके माँ-बाँप या फिर उसके बतुर्ग उसकी शैतानियों पर अंकुश लगाने के लिये भूत या हऊआ** का सहारा ले लेते है और कहते है कि "मुन्ना। शैतानी बन्द करो अन्यथा तुम्हे भूत/हऊआ खा जायेगा।" यहाँ पर माँ बाप द्वारा भूत को व्यवहारिक रूप में लिया गया। बच्चा शैतानी को भूल गया। और उसके मन में भूत के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। फिर बच्चे (मुन्ना) के सामने कई मर्तवा शैतानी को अंकुश लगाने के लिये माँ-बाप ने भूत/ हऊआ को आलम्ब मान कर, शैतानियाँ को प्रतिबन्धित किया। लेकिन मुन्ना (बच्चे) के माँ-बाप उस समय यह देख कर दंग रह गये कि जब चार वर्ष के मुन्ना ने कहा कि, मम्मी मुझे दूध नहीं पीना है, और अगर आपने जबरदस्ती मुझे दूध पिलाया तो मैं भूत से कह दूँगा, और वह तुम्हें खा जायेगा, भूत मेरा अच्छा दोस्त है।

---

*यहाँ पर सामान्य स्तर तक को गरीबी के दृष्ठिकोण में देखते है।

**बुन्देली भाषा में जिन्न को हऊआ कहा जाता है। "बुन्देली विकास" पृष्ठ संख्या 310 पैरा 7/5

यहाँ पर देखा गया कि प्रारम्भ में मुन्ना (बच्चे) का भूत शब्द से साक्षात्कार हुआ, उसी समय वह इस शब्द से अनभिज्ञ था, तथा जिज्ञासा ने उसे भूत शब्द भिज्ञ बनाया व भिज्ञता ने भूत शब्द को मुन्ना के व्यवहार में ला दिया, और जो प्रयोग माँ–बाप ने मुन्ना के शैतानियों पर अंकुश लगाने के लिये किया था। वही प्रयोग मुन्ना ने आज उनके लिये करने लगा।

उपरोक्त उदाहरण में हमने पाया कि छात्र/बालक के जीवन में व्यवहारिक और साक्षात्कार की प्रक्रिया अपनाया जाना स्वभाविक है। यदि हिन्दी के छात्रों को वनों, तलाबों, सुरम्य स्थानों आदि स्थानों का साक्षात्कार करावेंगे तो छात्रों की ग्राह्यता शक्ति में वृद्धि होगी। और उनकी भावनाएँ कविता के अनुस्पर्शी होगीं।

इसी प्रकार वनस्पति विज्ञान के छात्र को वनस्पतियों के प्रचुरता वाले क्षेत्रों में, जन्तु विज्ञान के छात्रों को चिड़ियाघरों में, भूगोल के छात्रों को नदियाँ, पहाड़ों, नगरों, उपनगरों आदि में, इतिहास के छात्रों को ऐतहासिक नगरों, महलों, किलों एवं प्राचीन मंदिरों में आदि आदि जगल ले जाकर उन्हें (छात्र) उपयुक्त सभी स्थानों से साक्षात्कार कराकर, परिचित कराकर, अध्ययन के प्रति जागरूक करने में सहजता होती हैं तथा छात्र विषय के प्रति सुग्राही होते है। इस प्रकार का किया–कलाप अध्यापक अभिभावक संघ के द्वारा सहयोग प्राप्त कर कर्नाटक एवं उ0प्र0 राज्यों में प्रधानाचार्य पर्यटन कराते है।

इसी प्रकार समाज में फैली कुरीतियों एवं बुराइयों को दूर कर, भारत की सांस्कृतिक एकता अखण्डता को कायम करने के लिये एकाकी एवं अन्य साहत्यिक, खेलकूद, तथा मनोरंजन के कार्यक्रम अध्यापक अभिभावक संघ विद्यालय परिवार के सहयोग से हित छात्र में सम्पादित करता है।

(य) पारस्परिक सहयोग की भावना के विकास हेतु Mid day Meal की महत्वपूर्ण भूमिका–

भारत एक विशाल जनसंख्या वाला देश है और यहाँ के प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम है। तथा अधिकांश जनसंख्या या तो सामान्य स्तर का जीवन यापन कर रही है या फिर निम्न (गरीबी) स्तर का जीवन यापन कर रही है। चूँकि भारतीय अर्थ–व्यवस्था मिश्रित अर्थ–व्यवस्था है, अतः यहाँ पर अर्थशास्त्री व राजनेता उत्पादन में पूँजीवाद एवं वितरण समाजवाद या साम्यवादी व्यवस्था के प्रवर्तक है। इस प्रकार उत्पादन के कार्यो में धर्नाजन का लाभ केवल कुलीन वर्ग तक ही सीमित है, जबकि वितरण प्रणाली में भारत सरकार सार्वजनिक उपक्रमों से उत्पादित माल क्रय करके लाइसेन्स धारको के माध्यम से वितरित कराने की पोषक है, जिससे ये लाइसेन्स धारक हमारे गरीब समुदाय का शोषण करते है। तो हमारे गरीब वर्ग के लोग (या गरीबी से पीड़ित जनता) सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का पूर्ण लाभ नहीं उठा पाते है। और स्वः उदर पूर्ति व परिवार की उदर पूर्ति के हेतु संघर्षरत रहते है।

इसके अलावा गरीब परिवार आज भी रूढ़िवादी विचार धाराओं से ग्रसित है। और वह भगवान की कृपा मानकर सन्तनोत्पत्ति को बढ़ावा देते है। जिससे एक-एक परिवार में सदस्यों की संख्या नौ से चौदह पन्द्रह तक हो जाती है। और गरीब अभिभावक उनकी (संतानो) शिक्षा से विरक्त होकर उनकी उदरपूर्ति विषयक चिन्ता में संलग्न होता है।

भारत जैसे देश में प्रचार-प्रसार के माध्यमों ने शिक्षा जगत में एक क्रांति लाकर खड़ी कर दी है। जिससे यहाँ पर प्रत्येक निवासी अपना सामाजिक स्तर को ऊपर उठाने के लिये अपनी संतानों (पाल्यो) को अच्छी शिक्षा देना चाहता है। तथा शिक्षा में खर्च बढ़ जाने से वह (अभिभावक) अपने वाल्य को पोष्टिक आहार मंहगा होने के कारण उपलब्ध नहीं करा पाता है, तथा साथ ही परिवार में सदस्यों की संख्या आधिक होने के कारण छात्र सुबह जब अपने घर से विद्यालय प्रस्थान करता है, उस समय उचित नाश्ता या भोजन नहीं मिल पाता है, जिससे छात्र विद्यालय में भूखा रहता है, इस प्रकार उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता और उसे कक्षा से विरक्ति होने लगती है। और धीरें-धीरें वह कक्षा और अध्यापक से दूर होने लगता है। ऐसी ही छात्रों की विरक्ति होने की प्रवृत्ति को रोकने के लिये गुजरात सरकार के आग्रह पर वहाँ के अध्यापक अभिभावक एसोसियेसन ने Mid day Meal की व्यवस्था की। जिससे वह छात्रों के कक्षा से पलायनवादी प्रवृत्ति पर एक रचनात्मक अंकुश लगा।

अब उ0प्र0 में भी अध्यापक अभिभावक एसोसियेसन द्वारा कई जिलों में कुल विद्यालय में Mid day Meal की व्यवस्था की गई।
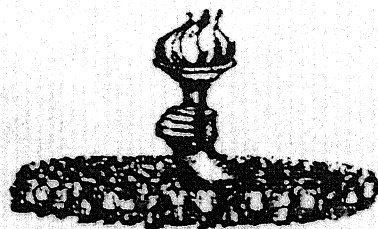
सप्तम्—अध्याय

अभिभावक–अध्यापक संघ का विद्यालयीन प्रशासन में महत्वः–

शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पक्ष संरक्षकों व शिक्षकों का सम्पर्क होता है। यह एक सामान्य अवलोकन हैं, कि जहाँ इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के मध्य घनिष्ठता होती है वहां विद्यार्थियों की देखभाल, मार्ग–दर्शन व शिक्षा का स्तर उच्च होता है। भारत में शिक्षाशास्त्र संबंधी पुस्तकों में संरक्षक–शिक्षक संपर्क का बहुत गुणगान होता है, लेकिन उनसे सबंधित समाजशास्त्रीय वास्तविकताओं की ओर, जब हम दृष्टिपात करते हैं तो एक भिन्न चित्र प्रस्तुत होता है। हमारे देश में अधिकांश माता–पिता अथवा संरक्षक अशिक्षित है। उन्हें शिक्षालयों व विद्यार्थियों की शिक्षा समस्याओं की बहुत कम समझ होती हैं। अतः वे शिक्षकों के साथ संपर्क बढ़ाने से कतराते रहते है। अधिकांश माता–पिता निम्न व निम्न–मध्यम–वर्गो के होने के कारण हीन भावना से ग्रस्त रहते है। अतः वे भी शिक्षकों से संपर्क नहीं रखते। उच्च वर्गो के माता–पिता ''पब्लिक स्कूलों'' के शिक्षकों से थोड़ा बहुत सम्पर्क अवश्य रखते है। नगरों में माता–पिता कार्य में इतने व्यस्त होते है कि उन्हें शालाओं में जाकर अपनी संतानों के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अवकाश ही नहीं होता।

अधिकांश माता–पिता पाठशालओं में जाने से इसलिए घबराते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि अल्प वेतन पाने वाले कई शिक्षक कहीं उन्हें अपनी संतान के लिये ट्युशन रखने को बाध्य न करें। माता–पिताओं और अभिभावकों को भी क्यों दोष दिया जाये? वास्तव में हमारी अधिकांश पाठशालाओं की सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी होती है कि जिसमें विद्यार्थियों के अभिभावकों को प्रवेश करने में एक प्रकार की हिचकिचाहट व धुटन अनुभव होती है। वहां भी नौकरशाही की प्रवृत्तियाँ प्रचलित होती है। राजकीय संस्थानों के शिक्षकों व प्रधानाचार्य को ''सरकारी अफसर'' माना जाता है। उनके व्यवहार में अफसरी की बू आ ही जाती है। अशिक्षित, अल्पआय वाले अथवा सामाजिक रूप से प्रभावहीन संरक्षकों के साथ प्रायः ऐसे अधिकारी का व्यवहार कोमल व प्रोत्साहक नहीं होता। कई बार शिक्षक यह बतलाते है कि जनता उनके साथ सहयोग नहीं करती, विशेषकर ग्रामीण जनता की शिक्षा संस्थाओं के प्रति बेरूखी तो एक बहुचर्चित विषय ही बना हुआ है। लेकिन इस संबन्ध में यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या शिक्षक भी वास्तव में उनके साथ घनिष्ठ संपर्क करने का इच्छुक होते हैं ?

मेरा स्वयं का अवलोकन है कि बहुत से शहरी नवयुवक ग्रामीण पाठशालाओं में शिक्षक नियुक्त किये गए हैं, जिनकी रूचि अपने ही नगर या कस्बे में रहने की होती है। वे साइकिलों या बसों के द्वारा नित्यप्रति दिन ग्रामों में स्थित अपनी पाठशालाओं में देर–सबेर पहुँचते हैं, और शाला–समाप्ति पर (कई बार तो उससे पूर्व ही) वहां से रवाना हो जाते है। न वे ग्रामीण जनता के सुख–दुःख के साथी होते है और न उनके हितचिंतन में भागीदार। स्थानीय शिक्षक भी प्रायः संकुचित राजनीति के शिकार रहते है। अतः उनका दृष्टिकोण भी अभिनति–पूर्ण रहता है।

जो थोड़े बहुत प्रधानाध्यापक संरक्षक–शिक्षक संपर्क में रूचि रखते है वे उनकी एक समिति बना लेते हैं, तथा कुछ विशेष दिवसों पर उन्हें आमन्त्रित करते है; जबकि कोई मन्त्री, विधानसभाई नेता या प्रमुख सदस्य किसी आयोजन का सभापतित्व करने का होता हैं। वस्तुतः दिखावे के भावना से ही अन्य संरक्षकों को भी निमंत्रित किया जाता है। यदि शिक्षक वास्तव में विद्यार्थियों के परिवारों से संपर्क स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें अपने पढ़ाने के कार्य के साथ ही साथ उनके परिवारों में स्वयं जाते रहना चाहिए, विद्यार्थियों की सामाजिक पृष्ठभूमियों का निरतंर सर्वेक्षण करते रहना चाहिए तथा परिवारों के आशिक्षित व अल्पशिक्षित सदस्यों को समाज–शिक्षा व अनवरत शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। भारतीय शिक्षक प्रायः इन कार्यो को अतिरिक्त उत्तरदायित्व मानते हैं, व इनको करने के लिए अतिरिक्त वेतन चाहते है। उनकी यह माँग एक सीमा तक उचित हो सकती है, लेकिन वास्तव में इसे पूरा करना कठिन है। शिक्षकों को जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए यह त्याग तो करना ही होगा। एक विकासशील देश के उत्थान में शिक्षक एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है। यदि वे एक उपयुक्त प्रकार के सेवाभावी सामाजिक दर्शन से अनुप्राणित हों।

अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि परिवार और शिक्षालयों का घनिष्ठ संपर्क होना चाहिए। इसके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को हल करने का प्रयास किया जाना चाहिए। शिक्षकों के कर्तव्यों में समाज के वर्तमान संदर्भ के अनुसार यथोचित परिवर्तन व अभिवृद्धि होनी चाहिए।

(अ) विद्यालय के चतुर्मुखी विकास में महत्व–

समाज असीमित होता है, जिसमें विविध सामाजिक संस्थायें अपने–अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहा करती हैं। कुटुम्ब एक अनिवार्य सामाजिक संस्था है जिसके सदस्य समाज के सदस्य होते हैं। कुटुम्ब और समाज हैं तो शिक्षा संस्थाएँ ही; परन्तु वे अविधिक (Informal) एवं अप्रत्यक्ष (Indirect) शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनकी स्थापना विधिपूर्वक एकमात्र शिक्षा (साक्षरता) प्रदान करने हेतु नहीं की गई। फलतः बालक परिवार और समाज में रहकर अनजाने ही कुछ न कुछ सीखता ही रहता है, और अपने व्यक्तित्व के निर्माण में तल्लीन रहता है। कुटुम्ब अथवा समाज के द्वारा प्राप्त होने वाली शिक्षा पर्याप्त और सविधिक नहीं होती। अतः समाज ने सविधिक (Formal) तथा प्रत्यक्ष (Direct) शिक्षालयों की स्थापना की, जिनका एकमात्र उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना ही होता हैं।

विद्यालयों में विविध कुटुम्बों और संस्कृति के बालक पढ़ने आते हैं जिनके द्वारा विविध समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विद्यालय के कृत्रिम वातावरण उन बालकों की व्यक्तिगत क्षमताओं से लाभ न उठाकर अपना एक पृथक स्वरूप निर्धारण करने का प्रयास करता है। इस प्रकार विद्यालयों में जो कुछ पढ़ाया जाता है, वह बालक के जीवन का अंग नहीं बन पाता। व्यक्ति शिक्षालयी शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी व्यवसायिक दृष्किोण से परावलम्बी बना रहता है और उसमें आत्म–निर्भरता नहीं आ पाती। यदि विद्यालयों को समाज के बाह्य स्वरूप से सम्बद्ध करके उसकी आवश्यकता–पूरक विचारधाराओं के अनुरूप पाठ्यक्रम

निर्मित करके शिक्षा प्रदान की जाय तो सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप व्यावसायिक सामर्थ्य उत्पन्न हो सकती हैं। विद्यालय के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर बालकों के अभिभावकों को निमन्त्रित करके उन्हें विद्यालयी व्यवस्था, प्रगति, कार्य-प्रणाली और वातावरण से परिचित कराना चाहिए और अभिभावकों से उनके विचारों से परिचित होने के लिए सुझाव और योजनाएँ माँगनी चाहिए। ऐसी परम्परा उत्पन्न होने से अभिभावक अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति जागरूक होकर सहयोग देने की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे। यही बात शिक्षकों के लिए भी आवश्यक है। शिक्षक बालकों के घर जाकर उनके कौटुम्बिक वातावरण का निरीक्षण करें और उसके सुधारार्थ सुझाव प्रस्तुत करें। सांस्कृतिक विकास के दृष्टिकोण से विद्यालों का परम कर्तव्य है कि वे अपने उत्तरदायित्व पर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करें। विविध त्यौहारों एवं पर्वो का संचालन करते हुए अभिभावकों को उनके महत्व से परिचित कराएँ।

प्राचीन भारतीय परम्पराओं के अनुसार शिक्षालय सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र हुआ करता था। सामाजिक एवं सांस्कृतिक समारोह विद्यालयों में मनाए जाते थे। शिक्षालयों के प्रधानाध्यपक ग्रामों की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होते थे और उनकी रूचिकर व्यवस्था किया करते थे। इस व्यवस्था से जनसामान्य विद्यालयों के शिक्षा-प्रणाली और शिक्षा-व्यवस्था सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती। परिणाम यह होता है कि समाज का शिक्षालयों में से विश्वास उठ जाता है। यह व्यवस्था ठीक नहीं है। यदि आज भी विद्यालयों को समाज की आस्था और सहयोग का पात्र बनाना है तो उन्हें जन-जीवन की गतिविधियों का केन्द्र बनाया जाय, अभिभावकों से शिक्षकों का सम्पर्क धनिष्ठ कराया जाए और समाज की आवश्यकताओं के अनुरुप पाठ्य-विषयों की व्यवस्था की जाय।

समाज के भावी नागरिक एवं सदस्य विद्यालय में ही शिक्षा-प्राप्त करने आते हैं। यदि उनके शिक्षा-काल में ही उन्हें यह विश्वास दिला दिया जाय कि शिक्षालय समाज की आवश्यकता पूर्ति करता है और वह समाज की सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र है तथा समाज का अभिन्न अंग है तो बालकों में विद्यालयों के प्रति विश्वास और सहयोग की भावनाएँ जाग्रत हो सकेंगी। ये ही भावी नागरिक भावी समाज की रचना करते हैं। ऐसा निर्मित समाज स्कूलों के विकास में सहयोगी सिद्ध हो सकता है। समाज को यह विश्वास दिलाने के लिए कि विद्यालय समाज का है और उसका अभिन्न अंग है, विद्यालय में सामाजिक आवश्यकता के अनुसार पाठ्यक्रम संचालित करने होंगे।

संसार के अनेक देश ऐसे हैं जहाँ के नागरिक शिक्षा-सम्बन्धी योजनाओं में रूचि लेकर विद्यालयी व्यवस्था को प्रभावित किया करते है। यद्यपि एकात्मकता और समरूपता की दृष्टि से राज्य सरकारें पाठ्यक्रम निर्धारित करती हैं और राजकीय नियन्त्रण में शिक्षण-कार्य कराया जाता है तथापि नागरिक अपनी आवश्यकताओं एवं आदर्शो के अनूरूप शिक्षा-पाठ्यक्रमों को प्रभावित करते हैं और विद्यालयी कार्यक्रमों में भाग लेते हैं। दिन के जितने समय तक बालक विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करता है उस शिक्षा का बालक पर प्रभाव पड़ता है और उसकी कौटुम्बिक उपलब्धियाँ उस शिक्षा से प्रभावित होती हैं। इस प्रकार

शिक्षालय और कुटुम्ब एवं समाज अपने-अपने पर्यावरणों द्वारा बालक के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हुए प्रतियोगितात्मक वातावरण का सृजन करते हैं।

समाज सभी दृष्टिकोणों को आत्मसात करते हुए शिक्षा-आदर्श निर्धारण नहीं कर पाता। शिक्षालय इस दिशा में सहयोग प्रदान कर सकता है। समाज प्रत्येक बालक के लिए विकास का समान अवसर दे सके, यह सम्भव नहीं और प्रत्येक विद्यालय में समाज के व्यक्ति के लिए विकास की सुविधाएँ जुटाई जा सकें, यह भी सम्भव नहीं है, परन्तु सहयोग और सम्पर्क से व्यक्तियों को विकास के अधिकांश अवसर प्राप्त हो सकते हैं और विद्यालयों में सुविधाएँ जुटाई जा सकती है। प्रौढ़ों को शिक्षा का प्रबन्ध, साक्षरता का विकास, व्यावसायिक कुशलता की सीख विद्यालयों को केन्द्र बनाकर संचालित की जा सकती है। विद्यालयों को सांस्कृतिक केन्द्र बनाकर जनता में सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक आचरण की प्रेरणा दी जा सकती हैं।

(ब) प्रशासन की प्राचीन, वैज्ञानिक एवं मानवीय सम्बन्धों की अवधारणा एवं प्रकृति-

जितनी अच्छी तरह से हम समाज को समझेंगे उतनी ही अच्छी तरह से हम पाठशाला रूपी समाज के सूक्ष्म रूप में होने वाली सभी बातों का स्पष्टीकरण कर सकेंगे।

"The better we understand society the better we shall be able to account for all that happens in that happens in that social microcosm that the school is" Durkheim, p.131

अपनी अन्य पुस्तक "Moral Education" में द्‌यूर्केम ने अपनी सम्पूर्ण शिक्षा समाजशास्त्रीय विचारधारा को इस महत्वपूर्ण कथनांश में प्रस्तुत किया है

"सबसे बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा सामाजिक उद्‌देश्य की पूर्ति का एक सामाजिक साधन हैं-ऐसा साधन जिससे समाज अपने अस्तित्व को सुनिश्चित करता है। शिक्षक समाज का अभिकर्ता या एजेन्ट है, वह सांस्कृतिक संचार की एक महत्वपूर्ण कड़ी भी है। यह उसी का कार्य है कि वह एक सामाजिक या नैतिक व्यक्ति का निर्माण करे। उसी के माध्यम से तो समाज अपने अनुरूप व्यक्ति की रचना करता है। यही शिक्षा का कार्य और गौरव है। शिक्षा एक नया व्यक्ति बनाती है।"[7]

"..............education is, above all, a social means to a social end-the means by which a society guarantees its own survival. The teacher is society's agent, the critical links in cultural transmission. It is his task to create a sacial, a moral being. Through him, society creates man in its image. That is the task and glory of education"""""education creates a new being.

Durkheim (Moral Education)

जब हम उपर्युक्त कथनांशों पर विचार करना आरम्भ करते है तो कई बातें पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं। दुर्खीम की विचारधारा के अनुसार शिक्षा को समाजीकरण की प्रक्रिया ही माना जा सकता है। लेकिन यहां यह बात स्मरण रखने की है कि वे किसी भी प्रकार के निश्चित समाजीकरण को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार समाजीकरण ऐसा ही होना चाहिए जिसे समाज के बड़े-बूढ़े व राज्य को पसन्द करते हों। वे तो निःसन्देह पहले से चली आ रही परम्पराओं, रीति-रिवाजों, व्यवहार के प्रतिमानों को ही पसन्द करेंगे, क्योंकि ऐसा करना ही उनके व समाज के हित में है। उनके अनुसार व्यक्तियों के लिए सामाजिक व सांस्कृतिक आदत के रूप में व्यवहार करना सरल होता है। इनके अनुसार व्यवहार करने से उस समाज के सदस्य अन्य समाज के सदस्यों से भिन्न होते हैं। समाज का अस्तित्व इस प्रकार से चलता रहता है और व्यक्ति को भी सुगमतापूर्वक अपने पूर्वजों की जीवन-योजना अथवा जीवन के मानचित्र के आधार पर अपना जीवन-यापन करना सुगम होता है।

हम यह सुगमतापूर्वक समझ सकते हैं कि वे यह क्यों कहते हैं कि राज्य की इच्छाओं के अनुसार हो शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम व व्यवस्थाएँ आदि हों। शिक्षक को अपनी स्वतन्त्र विचारधारा को कक्षा में प्रतिपादित करने का अधिकार नहीं है, उसे तो केवल वही कहना व करना चाहिए जो कि सामाजिक परम्पराओं के अनूरूप हो। यदि वह उनका उल्लंघन करता है अथवा यदि वह अपनी ओर से नया या स्वतन्त्र ज्ञान पाठशाला में प्रविष्ट करने का प्रयास करता है कि यदि शिक्षक उक्त व्यवस्था उस समाज की निरन्तरता को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हो सकती हैं ? कोई भी समाज किस प्रकार अपनी शिक्षा-व्यवस्था व अपने शिक्षकों की ओर से विरोध या विद्रोह को सहन कर सकता हैं ?

उक्त विचारों को आलोचना करने से पूर्व हम दो तथ्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। प्रथम तो यह कि द्यूकेम के ऐसे विचारों से पूर्णतया मेल खाते हुए विचार कुछ अन्य सामाजिक मानवशास्त्रियों ने भी दिए हैं। लोबी के अनुसार "शिक्षा कई युगों व व्यवहार के सभी स्तर का एकत्रित ज्ञान हैं। यह वह सामाजिक अर्थव्यवस्था है जो आगे होने वाले विनाश को रोकती है।[8]

"It is all the accumulated knowledge of the ages and all standards of conduct. Education is the social economy that forestalls such wastage".
-R. M. Lowie.

रेडियन के अनुसार "शिक्षा एक सुनिश्चित व सुव्यवस्थित प्रभाव है जो कि प्रौढ़ व्यक्तियों द्वारा अप्रौढ़ व्यक्तियों पर डाला जाता है तथा ऐसा करने में व्यक्ति व समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा जाता हैं।

"Education is the deliberate and systematic influence exerted by the mature person upon the immature, through instruction, descipline and harmonious development of physical, intellectual, aesthetic, social and spiritual powers of the human being, according to the individual and social needs and directed towards the union of the educand and his creator as the final end."
-Redden.

महान सामाजिक मानवशास्त्री हरस्कोवित्स के ही शब्दों में "शिक्षा एक प्रक्रिया है जिसका कार्य व्यक्तिगत व्यवहार को संस्कृति की एक विशेष आवश्यकताओं के अनुरूप बनाना होता है।"

"Education is a process whose function is to bring individual behaviour in line with the specific requirements of a criture."

-Herskovits.

(स) अभिभावकों में विद्यालयीय क्रियाओं के प्रति रुझान उत्पन्न करना एवं उनकी सहभागिता बढ़ना-

वस्तुतः मनुष्य विकास हेतु परिवार एक विशिष्ट संस्था हैं। पशु-पक्षियों को भी अपनी भोजनादि प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परिवार पर ही आश्रित रहना पड़ता है। परन्तु मनुष्य के लिए परिवार का महत्व अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि वहां पर रहते हुए मनुष्य का आत्मिक विकास होने के साथ-साथ सांस्कृतिक निधि की प्राप्ति में भी सहायता मिलती हैं। सामान्यतया जिन बालकों के माता पिता का बचपन में ही देहान्त हो जाता है, उनके व्यक्तित्व के काई पहलू अविकसित ही रह जाते हैं। अतएव परिवार को बालक के विकास के लिए कई दायित्वों अथवा कर्तव्यों का वहन करना पड़ता है।

परिवार का कर्तव्य संस्कृति को परिवर्द्धित करना भी है। मनोवैज्ञानिकों ने परिवार के परिप्रेक्ष्य में बाल्यकाल के अनुभवों का महत्व स्वीकार किया है। बालक के प्रारम्भिक अनुभवों का भावी जीवन प्रशस्त बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान रहता है। घर में बालक पर माता का गम्भीर प्रभाव पड़ता है। माता के अतिरिक्त घर के सम्बन्धियों तथा सहयोगियों से भी बालक के प्रति शिष्ट एवं संयत व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। बालक के अन्दर वातावरण के विविध पक्षों से शिक्षा अर्जित करने की क्षमता होती है जिसके फलस्वरूप वह परिवार की परम्पराओं, रूचियों और आदर्शों की शिक्षा ग्रहण करता रहता है। यह शिक्षायें बालक कभी समझकर अथवा बिना समझे-बूझे ग्रहण करता रहता है और इस प्रकार वह स्कूल में व्यक्तित्व के अतिरिक्त परिवार से अर्जित परम्पराओं, आदर्शों तथा संस्कृतियों को भी साथ में ले आता है।

बालक के उचित विकास में परिवार के वातावरण तथा विभिन्न परिस्थितियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है, क्योंकि मूलप्रवृत्तियों (Instincts) का परिष्करण (sublimation), सन्तुष्टि (Satisfaction) तथा अवदमन (Repression) परिवार के वातावरण की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता पर निर्भर करता है। यदि परिवार में स्वस्थ वातावरण है और बालक का मार्गदर्शन उचित रूप में हुआ है। तो उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ परिष्कृत और संतुष्ट होकर उसके व्यक्तित्व पर अच्छे संस्कार छोड़ेगी। इसके विपरीत यदि परिवार में आये दिन आपस में कलह होते

रहते हैं अथवा पिता का व्यवहार घर पर बड़ा दोषपूर्ण है, तो बालक इन अनेक तरह के दोषों का शीघ्र अनुकरण कर लेता है। कभी–कभी कुद परिवार कठोर नियन्त्रण (Srtict Control) पर बहुत बल देते हैं। यद्यपि इस प्रकार के नियन्त्रण बालकों के लाभ के हेतु ही किये जाते हैं, तथापि इसके प्रभाव प्रायः विपरीत ही देखे जाते है।

हमारे देश में अधिकांश परिवारों में माता–पिता बच्चों के प्रति अपने शिक्षा सम्बन्धी दायित्वों का वहन भली प्रकार से न करने के कारण बालकों के उचित विकास के हेतु स्वस्थ वातावरण के निर्माण में प्रायः असफल ही होते है। इस असफलता का प्रधान कारण धनाभाव ही होता है। जिससे बच्चों का पालन पोषण तथा शिक्षा की व्यवस्था अच्छे ढंग से नहीं हो पाती। किन्तु जिन परिवारों में घन का अभाव नहीं हैं वहाँ शैक्षिक दायित्वों (Educational Responsibilities) की कमी ही दोषपूर्ण वातावरण बनाये रहती है।

बालक का चरित्र–निर्माण परिवार से ही शुरू होता है। अतः किसी आदत को अपनाने की ओर प्रेरित करने के लिए परिवार के नैतिक वातावरण का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि परिवार के सदस्यों का व्यवहार सत्यता, प्रेम, सौहर्दता आदि गुणों से परिपूर्ण है, तो बालक सहज रूप से सतत् गुणों का अनुकरण कर लेगा। प्रारम्भ में बालक अनुकरण (limitation) से ही अधिकांश बातों को सीखते हैं। अतः बालक किन बातों को सीखते हैं उस ओर परिवार को ध्यान देना आवश्यक है। परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त बालक पर सहपाठियों, नौकरों तथा अभ्यागतों का भी प्रभाव पड़ता है। कभी–कभी बालक घर के नौकरों के सम्पर्क से बेकार की बातें सीख लेता है। इसलिए नौकरों की नियुक्ति में उनके चरित्र पर ध्यान रखना चाहिए। बालक को आस–पास के गन्दे लड़कों के साथ न जाने देना चाहिए।

पुरस्कार और दण्ड (Reward and Punishment) भी बालक के चरित्र को काफी प्रभावित करते है। बालक को पुरस्कार अथवा दण्ड देने के पूर्व माता–पिता को उसकी आवश्यकता अथवा अनावश्यकता पर जरूर ध्यान देना चाहिए, क्योंकि निरर्थक दण्ड से भीषण परिणाम दिखाई दे सकते हैं। बालक के अतिरंजित प्रशंसा अमनोवैज्ञानिक होती है।

चरित्र के महत्वपूर्ण अंग आत्म–विश्वास को जागृत करने हेतु भी प्रयत्न प्रारम्भ से ही करना चाहिए। यदि बाल्यकाल से ही बालक में आत्म–विश्वास के गुणों का विकास का अवसर नहीं मिलता तो उसमें असुरक्षा की भावना बढ़ने लगती है जिससे उसे बड़ी मानसिक व्यथा होती है और कभी–कभी वह घर के बाहर गन्दे रास्ते को अपनाने की ओर प्रवृत होता है। बालक के अन्दर आत्म–विश्वास छोटी–छोटी बातों के द्वारा जगाया जा सकता है; यथा–रात्रि के समय घर के दरवाजों को बन्द करने के लिये कहना, छोटे भाई–बहिनों की सुरक्षा का भार सौंपना आदि। ये कार्य ऐसे हैं जो बालक से यदाकदा सम्पादित कराए जा सकते हैं। बालकों में सुरक्षा, सम्मान तथा विश्वास परिवार के वात्सल्यपूर्ण और आत्म–निर्भर होने का प्रयत्न करता है तथा साथ ही वह अपने महत्व को समझने भी लगता है।

बालक के मन का झुकाव (Bent of Mind) किस दिशा की ओर है यह भी परिवार को देख लेना चाहिए। दूसरे शब्दों में, रूचि का अध्ययन इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इससे बालक को भावी जीवन में व्यवसाय–विशेष के चयन में सहायता मिलती है। सामान्यतया माता–पिता बालक की रूचि एवं क्षमता को बिना जाने–बूझे ही एक विशेष व्यवसाय चुनने के लिए बलात् चेष्टा करते हैं जो कि सर्वथा अनुचित है। बालक का जिस दिशा अथवा क्षेत्र की ओर प्रबल आकर्षण हो उसी ओर बालक को निपुण प्रयत्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। बालक के भावी जीवन की दृष्टि से उसे कुछ प्राथमिक कर्तव्यों का बोध कराना आवश्यक है। इस दिशा में परिवार का प्रथम कार्य शारीरिक अवयवों तथा इन्द्रियों का समुचित प्रयोग सिखाना हो जाता है। किसी भी व्यवसाय विशेष के लिए आवश्यकीय आत्म–निर्भरता, रूचि आदि गुणों की आधारशिला निर्माण करना परिवार का ही दायित्व हैं।

बालक स्वभाव से ही जिज्ञासु होते हैं। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी बातों को अपनाने के लिए उनके अन्दर उत्सुकता (Curiosity) रहती हैं। आस–पास की वस्तुओं को देखकर वे बरबस ही पूछ बैठते है कि यह क्या है? वह क्या है? इत्यादि बच्चों के छोटे–छोटे प्रश्नों का उत्तर न दे सकने के कारण माता–पिता डाँट देते हैं अथवा ऊटपटांग उत्तर दे देते हैं। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। यदि माता–पिता से बालक प्रश्नों का सही उत्तर प्राप्त नहीं कर पाता है तो वह घर के नौकरों अथवा कम पढ़े–लिखे लोगों से पूछता हैं। अतः बालक के बौद्धिक विकास के लिए आवश्यक है कि माता–पिता स्वयं अपना ज्ञान बढ़ाने का यत्न करें और बहुत ही संयम पूर्वक बालकों के प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करें। ऐसा करने से ही बालकों में जिज्ञासा–प्रवृत्ति का विकास सम्भव हो सकेगा और साथ ही मानसिक धारा में अवरोध उत्पन्न न होने से वे बहुत सी नई बातों को सीख सकेंगे।

जिज्ञासा और उत्सुकता से ही कल्पना शक्ति (Imaginative Power) का विकास होता है। कल्पना शक्ति का सतत विकास छोटी–छोटी पहेलियों एवं वीरतापूर्ण कहानियों से किया जा सकता है। माता–पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों को रोचक कहानियाँ समय–समय पर सुनाते रहना चाहिए। सोने के समय रात्रि में बच्चों को कहानियाँ सुनाना अच्छा कार्य है। पहेलियों से चिन्तन शक्ति (Thinking power) बढ़ती है और मन का व्यायाम भी हो जाता है। बालकों पर इस सम्बन्ध में कड़ा नियन्त्रण रखना वांछित विकास में अवरोध उत्पन्न करना है। परिवार में ऐसा वातावरण उपस्थित करने का प्रयत्न होना चाहिए कि उससे बालक के कार्य में विघ्न न पड़ें।

परिवार का यह भी दायित्व है कि वह बालकों में सौन्दर्य की अनुभूति (Aesthetic feeling) की ओर रूचि जागृत करे। इस सम्बन्ध में घर के छोटे–छोटे कार्यो में बालक को लगाकर उसे सुन्दरता अथवा सौन्दर्य भावना की ओर अनुप्राणित किया जा सकता है। केश–प्रसाधन, वस्त्र–प्रक्षालन, घर की वस्तुएँ सुव्यवस्थित रूप से रखने के कार्यो में अदि बालक उचित रूप से कार्य करता है तो माता–पिता की ओर से उसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। यदि घर पर कोई फुलवारी अथवा उद्यान है तो वहां के पेड़–पौधों का परिचय देकर उसमें प्रकृति

का अवलोकन तथा सौन्दर्य की अनूभूति का उपदेश दिया जा सकता है! कला-प्रेमी परिवार में बालक में कला के प्रति प्रेम सुगमतापूर्वक जागृत किया जा सकता है। चित्र, टिकट तथा खिलौनों के एकत्रीकरण का कार्य भी उसी सौन्दर्यात्मक भावना का परिणाम होता है।

बालक को अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्व को बोध कराना परिवार का एक महत्वपूर्ण दायित्व है। इसे बोध कराने की दिशा में महापुरूषों के धार्मिक जीवन सम्बन्धी वृत श्रेष्ठ साधन है। प्रयत्न यही करना चाहिए कि बालकों के समक्ष धर्म जैसे गूढ़ विषय को सरलता तथा संक्षिप्तता से कहानी शैली के प्रश्रय द्वारा समझाया जाय। बालकों की धार्मिक और नैतिक शिक्षा बहुत कुछ माता-पिता के व्यक्तित्व से ही प्राप्त होती है। यदि परिवार का जीवन धार्मिक है तो बालक उसके साथ समरस होने का प्रयत्न करेगा।

परिवार के दायित्व के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बालक के व्यक्तित्व-विकास और चरित्र-निर्माण को समुचित दिशा देने में परिवार को विविध तरह के दायित्वों अथवा कर्तव्यों का पालन करना पड़ता है।

यह बड़ा ही महत्वपूर्ण दायित्व है जिसकी ओर परिवार के सचेत और जागरूक न रहने से बालक का सही रूप में विकास नहीं हो पाता है। यद्यपि कुटुम्ब में बालक के हेतु प्रत्यक्ष एवं सविधिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती, किन्तु बालक में इतनी अधिक ग्रहणशीलता होती है कि वह अपने वातावरण की विविध वस्तुओं के साथ सुगमतापूर्वक समायोजन स्थापित कर लेता है।

ऐसी स्थिति में बालक को परिवार के सम्मुख निरन्तर स्वस्थ वातावरण बनाए रखने का दायित्व अपेक्षाकृत बढ़ जाता है और साथ ही यह भी आवश्यक है कि माता पिता श्को बालकों के समक्ष कोई दोषपूर्ण व्यवहार अथवा उदाहरण नहीं प्रदर्शित करना चाहिए।

दूसरी बात जो ध्यान में रखना जरूरी है वह यह है कि प्रत्येक बालक की रूचियाँ, ईच्छायें आदि दूसरे से भिन्न होने से व्यक्तित्व में भिन्नता आना स्वाभाविक ही है। अतः बालकों की कभी एक-दूसरे से अमनोवैज्ञानिक तुलना नहीं करनी चाहिये। प्रत्येक बालक को अपने विचारों तथा इच्छाओं के अनुरूप ही विकास करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। हमारे देश के अधिकांश परिवारों में लड़के-लड़कियों में एक प्रकार का अन्तर किया जाता है जो कि सर्वथा अनुचित है। लड़कों के प्रति अधिक तथा लड़कियों के प्रति अपेक्षाकृत कम वात्सल्य प्रदर्शन की एक धारणा अथवा मनोवृत्ति सी बन गई है जो कि दोनों के विकास में बाधक होने के साथ-साथ अमनोवैज्ञानिक भी है।

इस प्रकार हम देखते है कि बालक के भावी जीवन की आधार-शिला परिवार में खड़ी की जाती हैं। इसलिए परिवार के महत्व को एक शिक्षा-संस्था के रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(द) समाजिकता का विकास–

किसी भी आदिम समूह, जनजाति या सरल समाज की संस्कृति को देखें। मध्यप्रदेश के बस्तर क्षेत्र में जंगलों व पहाड़ियों से घिरे हुए क्षेत्र में रहने वाली मुरिया (Muria) जनजाति का ही उदाहरण लें। सुप्रसिद्ध मानवशास्त्री वेरियर एल्विन ने अपनी दो सुन्दर पुस्तकों "दी किंगडम ऑफ दी यूथ" तथा "दी ट्राइबल वर्ल्ड ऑफ वेरियर एल्विन" में मुरिया संस्कृति का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। वे बतलाते है कि शिकार व भोजन संग्रह करने वाले, अर्धनग्न रहने वाले,सरल, नृत्य व संगीत–प्रिय तथा मस्ताने ये लोग प्रकृति की गोद में रहते है और अपनी परम्परगत संस्थाओं, रीति–रिवाजों तथा व्यवहार के प्रतिमानों से अपना समाज संचालित करते है। अनमें परम्परागत रूप से "कुमारगृह" या "गाटुल"(Gotul) नामक संस्था होती है जो उनकी संस्कृति की मूलभूत या केन्द्रीय पाठशाला है। मुरिया परम्परा के अनुसार सभी अविवाहित लड़के वे लड़कियों के लिए गोटुल का सदस्य होना अनिवार्य होता है। लड़कों को "चेलिक" व लड़कियों को "मोटियारी " कहा जाता है। प्रत्येक रात्रि को सभी चेलिकों व मोटियारियों को गांव के बाहर घास के बड़े, बाड़े की भांति बने हुए गोटुल में ही सोना पड़ता है, जबकि विवाहित व विधुर मुरिया व्यक्ति अपने घरों में ही सोते है। संध्या होते ही चेलिक व मोटियारिया वहाँ आ जाती है। वहां कई घंटों तक अनेक कार्य होते है, जैसे स्थान की सफाई, सजावट, परस्पर सौन्दर्य–प्रसाधन, खेल–कूद, नृत्य, धार्मिक–गायन, सांस्कृतिक अनुष्ठान, लकड़ी बटोरने जाना और अन्त में एक चेलिक व एक मोटियारी का साथ में सो जाना। उनमें परस्पर यौन सम्बन्ध भी हो सकता है। इस सभी कार्यो का संचालन 'कोटबार' या 'सिरदार' नामक एक विधुर या अनुभवी अविवाहित व्यक्ति के द्वारा होता है जो मुरिया संस्कृति के स्वीकृत आदर्शो की पूर्ति के लिए उचित रीति–रिवाजों का अनुपालन करवाता है। गोटुल की परम्पराओं के अनुसार सभी सदस्यों को स्वच्छ, अनुशासित, सेवाभावी तथा सांस्कृतिक जीवन बिताने वाला होना चाहिए। कोई भी चेलिक किसी भी मोटियारी से दो तीन रात्रि से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रख सकता। गोटुल के यौन व अन्य सम्बन्धों को गोटुल से बाहर चर्चा का विषय नहीं बनाया जाता। गोटुल में सभी सम्बन्ध पूर्णतया मित्रता, स्वाधीनता तथा हर्ष–उल्लास से परिपूर्ण होते है। मुरिया जीवन जंगलों मं घिरा हुआ कठोर जीवन है। उसके लिए युवक–युवतियों को भली–भाँति तैयार करने के लिए गोटुल उन्हें एकीकृत रूप में धर्म, व्यवसाय, मनोरंजन, रक्षा, लोक कथाओं, चिकित्सा आदि विविध जीवन पक्षों की व्यवहारिक शिक्षा प्रदान करता है। कई वर्षो तक मुरिया जन–जीवन की इस शिक्षा–संस्था का अध्ययन करने के बाद लिखी गई अपनी आत्मकथा में एल्विन ने यह लिखा था, " **उन दिनों जबकि मैं मुरिया लोगों के स्वतंत्र व प्रसन्न जीवन में भागीदार था, मैं कभी–कभी सोचता था कि क्या मैं मुरिया लोगों से एक सौ वर्ष पीछे हूं या एक सौ वर्ष आगे? मैं यह तो नहीं कहता कि हमें अपने पब्लिक स्कूल हटा कर उनके स्थान पर गोटुल खोल देने चाहिएँ और अपने बच्चों को चेलिक व मोटियारियों बना देना चाहिए, लेकिन मैं यह सुझाव अवश्य देना चाहुंगा कि गोटुल के जीवन व शिक्षण में ऐसे कई तत्व है जिन पर हमारा गम्भीरतापूर्वक विचार करना हितकर होगा। मुरिया भावना का संक्रमण हम में से किसी को भी हानि नहीं पहुँचा सकता।**"

एक मुरिया लड़के और एक मुरिया लड़की को बड़े होकर अपने पूर्वजों व माता-पिताओं जैसी ही जिन्दगी निभानी होती है, उन्हें अपने समाज में ही रहना होता है। जिन परम्पराओं और समाजिक व्यवस्थाओं में वे जन्में हैं, व पल रहे है, उन्हीं में उन्हें अपनी यौवनावस्था व वृद्धावस्था बितानी है और अन्ततः उन्हीं में उनको मरना होता है और यहीं की परम्पराओं के अनुसार उसका अन्तिम संस्कार भी होता है। तब किसी प्रकार वे अपने समाज के कानूनों, परम्पराओं, व्यवस्थाओं, पंचायत के आदेशों, माता-पिता की इच्छाओं, धर्म व संस्कृति की मर्यादाओं को तोड़ने का दुस्साहस करेंगे और करेंगे भी तो वे क्या लाभ अठाएगें? स्वयं की इच्छाओं, कामनाओं या आकांक्षाओं को समाज की सामूहिक चेतना या इच्छा के आगे समर्पित किए बिना कैसे उनका व उनके समुदाय का जीवन चल सकता है? इसलिए उनकी शिक्षा, जोकि बहुत कुछ अंश में परम्परागत रूप से अनैपचारिक शिक्षा ही होती है, अपनी संस्कृति की आवश्यकताओं व अकांक्षाओं के अनुरूप अपने जीवन को ढ़ालने या मोड़ने की प्रक्रिया ही सामाजीकरण की प्रक्रिया है।

अमेरिका की सुप्रिसिद्ध मानव शास्त्री **मारग्रेट मीड** ने सामोआ द्वीपवासियों की संस्कृति तथा विशेषकर वहां के लड़के लड़कियों की मित्रता, यौन सम्बन्धों आदि का अध्ययन करके "The Comming of Age in Samoa" नामक जो विख्यात पुस्तक लिखी थी उससे भी लगभग यही बात सामने आई थी कि परम्परागत सरल संस्कृतियों में शिक्षा वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया के रूप में होती है। विश्व की कई जन-जातियों, आदिम समुदायों तथा सरल या पिछड़े हुए समाजों के बारे में सामाजिक मानव-शास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों द्वारा पिछले साठ वर्षो में सैकड़ो अन्य व शोधपत्र लिखे गए है। यही तथ्य बार-बार उनमें परिलक्षित होता है कि शिक्षा वास्तव में व्यक्ति के सामाजीकरण का ही कार्य करती है।

इस प्रकार हमने देखा है कि परम्परागत समाजों में शिक्षा जिस प्रकार का सामाजीकरण करना चाहती है वह अधिक सीमा तक पुरानी परम्पराओं व प्रचलित व्यवस्थाओं के अनुसार ही होता है। यह प्रवृत्ति आज भी बहुत कठोर बनी हुई है। इसका प्रमाण तो हम इसी बात से पा सकते हैं कि शिक्षा-शास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों और विभिन्न विद्वान के लेखों व भाषणों में अधिक से अधिक इस बात पर बल दिया जाता है कि पाठशाला या शिक्षा-व्ययस्था को उसके सामाजिक पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए। इस विचार की पृष्ठभूमि में द्यूकेम की परम्परागत समाजीकरण की प्रवृत्ति ही बलवती है। हमारा समाज बहुत अधिक सीमा तक वैसा ही है जैसा कि भूतकाल की परम्पराओं और वर्तमान काल की कुछ विवशताओं ने उसे बना दिया है। उस पर परम्परागत विचारधाराओं, धारणाओं, आदतों, मूल्यों आदि का अंकुर आज भी बहुत प्रभावशाली है। जो भी व्यक्ति यह कहते हैं कि हमारी शिक्षा-संस्थाएं वर्तमान समाज के अनुरूप बनें तथा वे उनके अनुसार स्वयं को ढालें, अर्थात् उनसे सामंजस्य स्थापित करें, वे उनकी विचार धारा का अनुमोदन करते हुए प्रतीक होते है। लेकिन क्या परम्परागत सामाजीकरण वर्तमान सामाजिकी व्यवस्था के अनुसार सामंजस्य करने की प्रक्रिया को, आज के संदर्भ में उचित ठहराया जा सकता है? हम पूर्णतया इस विचार से सहमत

नहीं है। जामिया मिलिया इस्लामिया के भूतपूर्व उपकुलपति व सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर एम० मुजीब ने इन शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति या विचार धारा की सार्थकता पर एक मार्मिक चोट की है।

(य) अभिभावक-अध्यापक परिषद् की अवधारणा एवं उसका प्रारूप-

वर्तमान शिक्षा सत्र से प्रदेश में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के कार्यान्वयन के लिये शिक्षा विभाग द्वारा अनेक उपाय किये जा रहे है। इसी संदर्भ में प्रत्येक माध्यमिक विद्यालय में एक अभिभावक-अध्यापक एसोसियेशन की स्थापना भी की जा रही है। एसोसियेशन के गठन एवं कार्यो में एकरूपता के लिये माध्यमिक शिक्षा परिषद द्वारा एक अभिभावक-अध्यापक एसोसियेशन विनिमयावली, 1986 बनायी जा चुकी है।

विनियमावली के अनुसार उक्त एसोसियेशन के उद्देश्य संस्था और स्थानीय समाज के पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ाना, संस्था की समस्याओं का आकलन और उनके निराकरण में सहयोग प्राप्त करना, नवीन शैक्षिक योजनाओं का स्थानीय सहयोग में सफल कार्यान्वयन, छात्रों के सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उन्नयन में अभिभावक का सहयोग एवं मार्गदर्शन प्राप्त करना तथा विद्यालय संचालन में परामर्श एवं सहयोग प्राप्त करना होगा किन्तु यह एसोसियेशन प्रबंधकीय कार्यो में हस्तक्षेप का अधिकारी न होगा।

एसोसियेशन की एक कार्यकारिणी होगी जिसका संरक्षक एवं मंत्री संस्था का प्रधानाचार्य होगा। अन्य पदाधिकारियों में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, उपमंत्री, कोषाध्यक्ष तथा दो अध्यापक, दो अभिभावक व एक प्रबन्ध समिति का प्रतिनिधि सदस्य होगा। प्रतिवर्ष अगस्त तक कार्यकारिणी की विधिवत निर्वाचन एवं गठन सम्पन्न कर लिया जायगा। आम सभा का आयोजन वर्ष में कम से कम दो बार और कार्यकारिणी की बैठक प्रतिमास के प्रथम रविवार को विद्यालय परिसर में की जायेगी। इन बैठकों के लिये कार्यसूची विनियमावली के साथ ही परिशिष्ट में संलग्न कर दी गयी है। शिक्षा विभाग का ऐसा विश्वास है कि कार्यकारिणी विद्यालय की शैक्षिक व्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभाएगी। यह वर्ष में कम से कम दो बार कक्षावार सम्मेलनों का आयोजन, संस्था की समस्याओं का आकलन, भौतिक एवं आर्थिक संसाधनों की व्यवस्था में योगदान, संस्था के कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाने, शैक्षिक उन्नयन की प्रेरणा हेतु श्रेष्ठ अध्यापकों, श्रेष्ठ छात्रों एव अभिभावकों को सम्मानित करने तथा कार्यानुभव, नैतिक शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था और आवश्यक संसाधन जुटाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करेगी।

जनपदीय शिक्षाधिकारी या उच्च अधिकारी कार्यकारिणी की बैठकों में विशेष रूप से आमन्त्रित किये जा सकेंगे और उनकी सम्मति प्राप्त की जा सकेगी। समय-समय पर आवश्यकतानुसार स्वस्थ्य विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग, वन विभाग, खेलकूद विभाग एवं अन्य विकास कार्यो से सम्बन्धित

अधिकारियों को भी विशेषरूप से आमन्त्रित किया जायेगा। इसी प्रकार कक्षा 9 व कक्षा 11 में सर्वोच्च अंक प्राप्त करने वाले छात्रों को भी आमन्त्रित किया जायेगा और उनकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर उनका समाधान किया जायेगा।

एसोसियेशन की कार्यकारिणी संस्था की समस्याओं के निराकरण, विशेष आयोजनों एवं अवश्यकतानुसार भौतिक संसाधनों की व्यवस्था हेतु समाज के उदार और सम्पन्न व्यक्तियों से स्वैच्छिक दान प्राप्त कर सकेगी। इसका नियमानुसार अनुसूचित बैंक में खाता खोला जायेगा। कोष में जमा धनराशि का उपयोग कार्यकारिणी द्वारा संस्था की समस्याओं के निराकरण, आवश्यकताओं की पूर्ति एवं विकास कार्यों में किया जायेगा।

एसोसियेशन के दो अभिभावक प्रतिनिधि संस्था की प्रबन्ध समिति की बैठकों में भी विशेष आमंत्री एवं सदस्य के रूप में भाग लेंगे। संस्था के अन्य कार्यकलापों में भी अभिभावक सदस्यों का प्रतिनिधित्व होगा। यदि किसी प्रश्न पर प्रधानाचार्य व एसोसियेशन या प्रबंध समिति व एसोसियेशन में मतभेद होगा तो विवादास्पद विषय पर जिला विद्यालय निरीक्षक का निर्णय अन्तिम माना जायेगा। शिक्षा विभाग द्वारा यह सुनिश्चित किया जा रहा है कि अभिभावक-अध्यापक एसोसियेशन गठित करने के सम्बन्ध में प्रत्येक विद्यालय द्वारा शीघ्र अति शीघ्र आवश्यक कार्यवाही पूर्ण कर ली जाय। यद्यपि विनियमावली की धारा 7,8,9,10, जुलाई 1 - 1987 से प्रभावी होगी ओर इन एसोसियेशनों की निर्वाचन प्रक्रिया तभी पूर्ण हो सकेगी, किन्तु एसोसियेशन का गठन इसी सत्र से किया जा चुका है, जिससे राष्ट्रीय शिक्षा नीति के कार्यान्वयन, शैक्षिक स्तर के उन्नयन एवं विद्यालयों की समस्याओं के आकलन तथा उनके लिये जन सहयोग जुटाने का प्रयास तत्काल प्रारम्भ किया जा सके। माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में अभिभावकों के सक्रिय सहयोग से उनकी विद्यालयों के प्रति आत्मीयता तो बढ़ेगी ही, विद्यालय की तमाम समस्याओं का स्थानीय एवं तात्कालिक निराकरण भी सम्भव हो सकेगा।
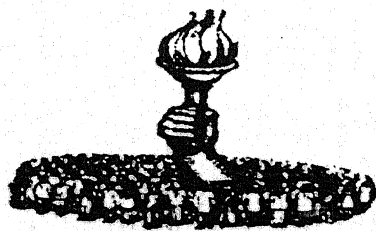
अष्टम्—अध्याय

बालक के विकास एवं उसकी शिक्षा में अभिभावक-अध्यापक संघ का योगदान-

मनोवैज्ञानिक सर्वेक्षण के आधार पर माना जाता है कि बालक 6घंटे विद्यालय में तथा 18घंटे परिवार और समाज के साथ व्यतीत करता है। ऐसी स्थिति में बालक की ¼ क्रियायें विद्यालय में और 3/4 क्रियायें परिवार और समाज के साथ व्यतीत करता है। बालक का परिवार वास्तव में उसका समाज होता है। इस प्रकार परिवार बालक के साथ दो भूमिकायें निभाता है। पहली भूमिका में वह बालक के आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, और दूसरी भूमिका में वह बालक को सामाजिक व्यवहार के सामान्य जानकारी देता है। इस प्रकार यह दो भूमिकायें निभाते-निभाते अभिभावक शैक्षिक पुष्टीकरण के लिये केवल विद्यालय पर निर्भर हो जाते है, और ज्यादातर अभिभावकों का मानना है कि बालक की शैक्षिक आवश्यकता की पूर्ति विद्यालय द्वारा की जायेगी।

जबकि अध्यापक जो विद्यालय के 6घंटों में सैंकड़ों छात्रों के सम्पर्क में रहता हैं, वह किसी एक विशेष छात्र के ऊपर ज्यादा ध्यान नहीं देता और अपनी कर्तव्यहीनता को बालको के पाल्यों के ऊपर डाल देता है।

जबकि अध्यापक और अभिभावक दोनों अपनी शैक्षिक पालायन वादिता को एक-दूसरे के ऊपर डालते हैं। फलतः बालक का भाविष्य, बालक की शैक्षिक उपलब्धि, बालक का शैक्षिक उन्नयन, बालक का शैक्षिक परिवेश, बालक का शैक्षिक निर्भरता आदि शैक्षिक वातावरण से जुड़े हुये तथ्य सभी कुछ अध्यापक और अभिभावक के बीच झूलते रहते है। इस प्रकार के झूलते हुये बालक कुन्ठा के शिकार हो जाते है और उनका शैक्षिक पलायन प्रारम्भ हो जाता है। और जिस बालक को हम अफसर की कुर्सी पर बैठा देखना चाहते है, वह बालक किसी पान की दुकान पर, चाय के रेस्टोरेन्ट पर, सिनेमा घर के बाहर, या किसी सैरगाह के ऊपर बैठा हुआ मिल जायेगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि अध्यापक और अभिभावक को एक-दूसरे के निकट लाया जाये। तथा छात्र की परिवारिक स्थिति, परिवारिक समस्या, परिवारिक समायोजन से अध्यापक को परिचित होना चाहिये। इस परिचय से एक तरफ बालक को विद्यालय में अपने घर जैसा वातावरण सुलभ होगा वही दूसरी तरफ अध्यापक भी श्रृद्धा का पात्र बन जायेगा। ऐसी स्थिति में बालक अपने अध्यापक से खुलकर किसी भी विषय पर बात कर सकता है। और उसका शैक्षिक अवरोध दूर हो जायेगा।

इसी प्रकार अभिभावक को बालक की विद्यालयीय गतिविधियों से परिचित होना चाहिये कि बालक विद्यालय में क्या-क्या करता है?, बालक की विद्यालय में कौन-सी मित्र मण्डली है?, बालक की कौन-सी शैक्षिक आवश्यकता है?, बालक को कौन-कौन से अध्यापक पढ़ातें है?, तथा वह कौन से विषय

में क्या जानकारी रखता है?, जब अभिभावक उपुर्यक्त जानकारी रखेगें, तो बालक के विकास में और उसकी शैक्षिक उपलब्धि के विकास में अध्यापक और अभिभावक दोनो ही अपना सम्पूर्ण योगदान देगें।

बालक के विकास में और उसकी शिक्षा में अभिभावक तथा अध्यापक दोनों अपनी महत्वपूर्ण भूमिका तब निभा सकते है, जब उनमें एक स्वस्थ्य समन्वय हो और मेरे व्यक्तिगत विचार से यह स्वस्थ समन्वय अभिभावक-अध्यापक संघ ही प्रदान करता है।

(अ) अभिभावक का वैयक्तिक योगदान व प्रभाव-

जब से बालक का जन्म होता है। वह अपने अभिभावक के सम्पर्क में रहता है। कहा भी गया हैं-

"Mother is the first teacher & family is the first school".
(माता पहली अध्यापक है और परिवार पहला विद्यालय है)

ऐसी स्थिति में अभिभावक की भूमिका बाल विकास में बालक के जन्म के साथ ही शुरू हो जाती है। बालक प्रारम्भ में अपनी माँ (महिला-अभिभावक) के सम्पर्क में रहता है, उसकी आचार-विचार, उसकी आवश्यकता, उसका भाषायी ज्ञान, उसकी भाषायी अभिव्यक्ति, उसकी नाट्य अभिव्यक्ति, उसकी सामवेगिक प्रवृत्ति आदि पर माँ का प्रभाव होता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होने लगता है, उसकी आवश्यकतायें बढ़ने लगती है तथा अपना सामाजिकरण करने के लिये बालक परिवार के अन्य सदस्यों से मेल मिलाप बढ़ता है। बालक का बढ़ता हुआ मेल मिलाप, उसमें विभिन्न प्रकार की विशिष्टतायें पैदा करता है। यही विशिष्टतायें आगें चलकर उसके व्यक्तित्व में परिवर्तित होती है। बालक माँ के प्रति अति स्नेही तथा अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये माँ को सबसे अधिक निकट पाता है। जब बालक बढ़ा होता है तो, माँ की स्नेही प्रवृत्ति से वह पलायन करने लगता है, और इस पलायन को उसका पिता इस पलायन की अन्य किसी और चीज से पूर्ति नहीं कर पाता है।

वर्तमान समय में भौतिकता की होड़ में अभिभावक अपने पाल्यों की भौतिक आवश्यकता तो पूरी करते है, लेकिन उनकी मानसिक, भावनात्मक, शैक्षिक, सामाजिक, सांवेगिक आवश्यकता पूरी करने के लिये उनके पास समय ही नहीं रहता है। अभिभावक जब तक बालक की इन आवश्यकताओं से परिचित नहीं होगें, तब तक वह बालक के इस विकास में अपना सम्पूर्ण योगदान नहीं दे सकते है। अभिभावक अगर अध्यापक और विद्यालय के सीधे सम्पर्क में है, तो अभिभावकों को अपने परिवार से इतर अन्य आवश्यकतायें भी ज्ञात हो सकती हैं। इस प्रकार अभिभावक अपने पाल्य के विकास में अपना सम्पूर्ण योगदान दे सकते है। एक अच्छे अभिभावक के लिये आवश्यक है, कि उसे बालक के विद्यालय दैनन्दिनी का पूर्ण ज्ञान हो तथा वह बालक की आवश्यकता अनुसार, क्षमता अनुसार, इच्छा अनुसार पाठ्य सामाग्री, क्रीड़ा सामाग्री

उपलब्ध करा सके। जब एक अभिभावक ये सारी चीजें अपने बालक को उपलब्ध करायेगा, तो वह बालक किसी भी प्रकार से वाह्य वातावरण का सहारा नहीं लेगा।

अभिभावक–अध्यापक संघ के माध्यम से अभिभावक विद्यालय के घटना क्रम से परिचित होते है। और बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माता कहीं न कहीं अभिभावक होते है। अभिभावकों की सकारात्मक प्रवृत्ति, बालकों को उनके भविष्य का स्वर्णिम स्वप्न को साकार करने में मद्द करती है तथा अभिभावकों की नकारात्मक प्रवृत्ति अपने उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिये, प्रदत्त बालक को गहरी खाई में ढकेल देती है।

इस प्रकार हम कह सकते है, कि बालक के विकास एवं उसकी शिक्षा में अभिभावक का वैयक्तिक योगदान होता है। तथा अभिभावक के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है।

(ब) अध्यापक का वैयक्तिक योगदान व प्रभाव–

शिक्षक राष्ट्र का निर्माता होता है और शिक्षक राष्ट्र को एक दिशा देता है। भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में अध्यापकों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि स्वतंत्रता आन्दोलन में राष्ट्रीयवादिता, पुर्नजागरण, राष्ट्र उत्थान,राष्ट्र में भावनात्मक एकता, स्वतंत्रता आन्दोलन की गति का नियंता और नियामक अध्यापक तथा उसके द्वारा दी जाने वाली शिक्षा थी। अध्यापक का वैयक्तिक योगदान व प्रभाव अतीत काल से ही समाज पर दिखाई देता है। अध्यापक विभिन्न युगों में अपना प्रभाव समाज पर छोड़ता रहा है। अध्यापक, बालक को मौलिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तथा उसकी अन्तर निहित शक्तियों को समाज के सम्मुख प्रस्तुत। डॉक्टर राधा कृष्णन ने कहा है–

* ''अध्यापक राष्ट्र का निर्माता है। अध्यापक का आचार–विचार उसके शिष्य पूर्ण रूप में ग्रहण करते है तथा एक बालक का व्यवहार, चरित्र, सांवेगिकता, समझ, बुद्धि, मूल्य, प्रतिमान, अच्छाई, बुराई यह चीज स्वतः प्रकट कर देते है, कि वास्तव में बालक में किस प्रकार के अध्यापक से शिक्षा ग्रहण की।''

डॉक्टर राधा कृष्णन का उक्त विचार अपने आप में अध्यापक की महती भूमिका को स्वतः प्रकट कर देता है। अध्यापक बालक में परिवार से इतर अनऔपचारिक शिक्षा प्रदान करता है। इस शिक्षा में अध्यापक बालक को उच्चारण सम्बन्धी ज्ञान देता है, इस शिक्षा में अध्यापक बालक को प्रेरणा दायक प्रसंग सुनाकर उनके सम्मुख जीवन का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करता है, इस शिक्षा में अध्यापक बालक में मनोवैज्ञानिक (मुख्य रूप से सामवेगिक, मौलिक अभिव्यक्ति, मौलिक चिन्तन, मौलिक आध्यात्म आदि का) दृष्टि कोण विकसित करता है।

---

* **Philosphical Foundation of India Page. No. 107 Para 3**

अध्यापक समाज का पथ प्रदर्शक और दिग्निर्देशन करने वाला होता है। वैसी स्थिति में अध्यापक की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। वैदिक काल से ही अध्यापक आदर्श का उच्चतम् आयाम रहा है। अध्यापक गुरूकुल में रहकर प्रकृति की क्रोड़ में रहकर बालकों को शिक्षा देते थे। वैसी स्थिति में प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में बालकों का शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक एवं आध्यात्मिक विकास होता था। इस विकास में न तो वर्तमान की व्यवसायिक प्रवृत्ति ही बाधक थी, न ही प्रदूषित संस्कृति। आज की शिक्षा यांत्रिक हो गई है, और ऐसी स्थिति में न तो अध्यापक के व्यक्तित्व का साक्षात्कार विद्यार्थी कर पाता है, और न ही विद्यार्थी की श्रृद्धा और समपर्ण का पात्र अध्यापक बन पाता है। फलतः शैक्षिक पर्यावरण में एक जड़ता आ जाती है और इसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सामना विद्यार्थी को करना पड़ता है। अध्यापक बालक के विकास में परोक्ष और अपरोक्ष रूप से प्रभावी भूमिका निभाता है।

अध्यापक का वैयक्तिक योगदान व प्रभाव बालक की शिक्षा दीक्षा के अलावा उसके जीवन में भी परिलक्षित होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि शैक्षिक प्रक्रिया में अध्यापक की भूमिका महती तो है ही, साथ ही बालक के जीवन में अध्यापक द्वारा दी गई शिक्षायें महत्व पूर्ण भूमिका अदा करती है।

(स) अध्यापक-अभिभावक दोनों का समन्वित योगदान तथा पारस्परिक सहयोग का बालक की शिक्षा एवं उसके सर्वांगीण विकास में योगदान-

अभिभावक-अध्यापक संघ बालक के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। बालक विद्यालय में शिक्षक के आस पास अपना शैक्षिक अधिगम पूरा करता है, तो वहीं वह परिवार में अपने अभिभावक के आस-पास अपना समय व्यतीत करता है। अध्यापक तथा अभिभावक दोनों बालक के विकास के लिये प्रमुख कारक है। इसमें से किसी एक को अगर विलग कर दिया जाये, तो बालक का विकास अवरूद्ध हो जाता है।

''अगर हम विद्यालय में बालक की गति-विधि देखें, तो बालक की पारवारिक स्वच्छन्दता विद्यालय परिवेश में देखने को नहीं मिलती और अगर हम परिवार में बालक को देखें, तो विद्यालय का अनुशासन परिवार में देखने को नहीं मिलता। ऐसी स्थिति परिवार के अभिभावक और विद्यालय के अध्यापक दोनों के बीच एक समन्वयात्मक सम्बन्ध होने चाहिए। अगर बालक परिवार के व्यक्तियों के बीच किसी बात को लेकर जिद्द करता है, तो परिवार के व्यक्ति उस जिद्द को किसी न किसी रूप में पूरा करते है। जबकि विद्यालय में न तो बालक की जिद्द को कोई स्थान है, न ही उसे तत्कालिक रूप में पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है, कि विद्यालय और परिवार में दोनों जगह छात्र या बालक का आचार-विचार,

उसकी मौलिक अभिव्यक्ति, उसकी मौलिक आवश्यकता, उसका मौलिक चिन्तन, उसकी मौलिक आत्माभिव्यक्ति, उसका किसी एक विम्ब के बारे में सोचना, उसका अपने निकटम व्यक्तियों के साथ व्यवहार अलग-अलग होता है। ऐसे अलग-अलग व्यवहार से बालक के व्यक्तित्व में एक दुहरापन आ जाता है और जहाँ हम अपनी संस्कृति के अनुसार (सादा जीवन, उच्च विचार) विम्ब परिलक्षित होते हुए देखना चाहते है, वहाँ उसका दुहरा व्यक्तित्व बालक में छल-प्रपंच, आडम्बर पूर्ण दिखावा, संवेदनहीनता, अराजकता, हिंसक प्रवृत्ति, अनुदार व्यक्तित्व पैदा करता है।''

यहाँ पर यह आवश्यक हो जाता है, कि वास्तव में बालक के विकास में प्रमुख रूप से वह कारक ज्ञात किये जायँ, जो उनके मौलिक व्यक्तित्व का निर्माण करें और आने वाले समय के लिये एक अच्छे नागरिक की पुष्टि करें। बालक एक ओर अपने परिवार के सदस्यों से जुड़ा हुआ होता है, तो दूसरी ओर वह अपने विद्यालय में अध्यापकों से जुड़ा होता है। इस कारण बालक, अभिभावक और अध्यापकों के बीच की कड़ी है। और यह कड़ी एक ओर परिवार से जुड़ी हुई है, दूसरी तरफ विद्यालय से।

चेकस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में स्थित यूरोप की सबसे पुराना विश्वविद्यालय, चार्ल्स विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक हेनरी स्मिथ ने 14 जून 1995 के लंदन से प्रकाशित, लंदन टाइम्स में लिखा है-

***"Environment is any external fource which is influsences us . Like as nature, like as school, like as sociaty, like as family, like as any where."**

जैसा कि हेनरी स्मिथ ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि बालक, उस पर्यावरण से नहीं बच सकता है, जिसमें वो रह रहा है। बालक जब अपने परिवार में रहता है, तो पारवारिक प्रभाव उसमें परिलक्षित होते है। जब वह स्कूल में होता है तो स्कूल का प्रभाव उसमें परिलक्षित होता है। जब वह समाज में होता है, तो उसमें समाज का प्रभाव परिलक्षित होता है। जब वह प्रकृति के सानिध्य में होता है, तो उसमें सामवेगिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। कहने का आशय यह है, कि बालक जहां जिस वातावरण में रहेगा, उसमें वैसे ही लक्षण दिखाई देगें।

अब प्रश्न उठता है, कि बालक के व्यक्तित्व निर्माण में शैक्षिक और सामाजिक पर्यावरण में साम्य किस ढंग से स्थापित किया जायें। क्योंकि बालक के सामाजिक क्रियाकलाप परिवार और समाज में घटित होते है और शैक्षिक क्रियाकलाप विद्यालय में घटित होते है। न तो विद्यालय समाज की तरह से

*** Henry Smith, Landon Times Date June 14, 1995 Para 1.3**

सामाजिक स्वतंत्रता बालक को प्रदान कर सकता है, और न ही समाज बालक को मर्यादित आचार संघिता प्रदान कर सकता है।

जब उक्त दोनों चीजे सम्भव नहीं है, तो बालक में एक तरफ शैक्षिक जड़ता आयेगी, तथा साथ ही उसमें सामाजिक विद्रोह की भावना पैदा होगी। बालक में शैक्षिक जड़ता न आये और सामाजिक विद्रोह की प्रवृत्ति विकसित न हो इसके लिये अध्यापक और अभिभावक का समनन्वय स्थापित करना आवश्यक है। अगर अध्यापक और अभिभावक का समनन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं होता है, तो परिवार की बुराईयाँ बालक विद्यालय ले जायेगा और विद्यालीय परिवेश में पढ़ रहे विगड़ैल छात्रों को एवं उनकी प्रवृत्तियों को अपने घर के अन्दर खुला आमंत्रण देगा।

अभिभावक-अध्यापक संघ इस प्रकार की कुरीतियों को अंकुश प्रदान करने का एक सबलतम उपक्रम हैं। इस उपक्रम में एक त्रिभुज के रूप में अध्यापक, अभिभावक, बालक को देखा जाता है।
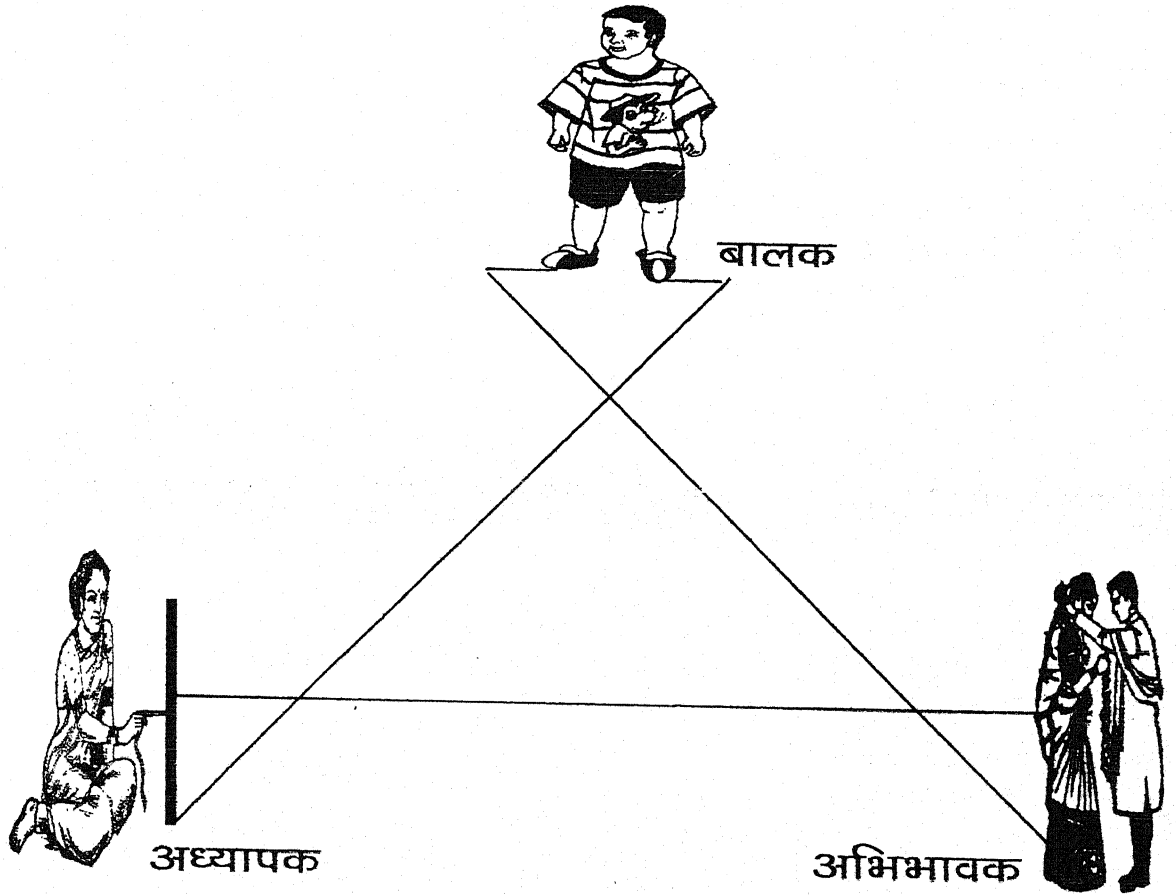
अगर त्रिभुज के किसी भी कोण को हम विलग करते है, तो वह बिल्कुल अलग-थलग पड़ जाता है। चाहे वह बालक हो, चाहे अभिभावक हो, चाहे वह स्वयं अध्यापक ही क्यों न हो। बालक परिवार हो या विद्यालय हो उसकी केन्द्रीयता निशचित है।

उदाहरण के रूप में विद्यालय के निम्नलिखित अंग है-

(1) प्रधानाचार्य।

(2) विद्यार्थी या बालक।

(3) फर्नीचर।

(4) शिक्षण कक्ष।

(5) शिक्षणेत्तर कर्मचारी।

(6) श्याम पट् तथा अन्य शिक्षण सम्बन्धी सामग्री।

(7) प्रबन्धतंत्र।

(8) विभिन्न शिक्षा अधिकारी।

(9) क्रीड़ांगन, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला, खेल सम्बन्धी सामग्री इत्यादि।

अगर इनमें से बालक को सम्पूर्ण विद्यालयीय प्रक्रिया से विलग कर दिया जाय, (अगर विद्यालय में बालक न हो) तो न ही प्रधानाचार्य का कोई मतलब है, न ही अध्यापक का कोई मतलब है, न ही फर्नीचर का कोई मतलब है, न ही शिक्षण कक्ष का कोई मतलब है, न ही शिक्षणेत्तर कर्मचारियों का कोई मतलब है, न ही श्याम पट् तथा अन्य शिक्षा सम्बन्धी सामग्री का कोई मतलब है, न ही प्रबन्धतन्त्र का कोई मतलब है, न ही शिक्षाधिकरी का कोई मतलब है, न ही क्रीड़ांगन, पुस्तकालय, वाचनालय, प्रयोगशाला, खेल सम्बन्धी सामग्री इत्यादि का कोई मतलब है।

निष्कर्ष यह निकलता है जिस प्रकार बालक या विद्यार्थी, विद्यालयीय परिवेश में केन्द्रीय बिन्दु है। इस केन्द्रीय करण में बालक की भूमिका को झुठलाया नहीं जा सकता है। क्योंकि विद्यार्थी या बालक के अभाव में शैक्षिक प्रक्रिया स्वयं दोषी हो जाती है। और विद्यालय का कोई औचित्य ही नहीं रहता है। क्योंकि जब विद्यालय में विद्यार्थी ही नहीं होगें तो, अध्यापक क्या कक्षा के श्याम पट् या फर्नीचर पढ़ायेगे या विद्यालय का पुस्तकालय, वाचनालय या प्रयोगशाला विद्यार्थी की कमी को पूरा कर देगी। शायद नहीं कदापि नहीं।

"वर्तमान समय में अध्यापक की जगह प्रोजेक्टर ने और पाठ्य पुस्तकों की जगह इंटर नैट की संस्कृति ने बालकों के सम्मुख शिक्षा परोस के रख दी। आँख फोड़ कम्प्यूटर की स्क्रीन वर्तमान समय में प्रभावी रूप से देखी जा रही हैं और प्रोजेक्टर ने अध्यापक को भी व्यवसायिक बना दिया। इंटरनेट बालक के अन्तस् का जाल बनकर रह गया हैं और बालक का व्यक्तित्व बर्हिमुखी बनने की जगह अर्न्तमुखी

बनता जा रहा हैं। इस अर्न्तमुखी व्यक्तित्व ने बालक को संवेदना शून्य कर दिया है। आज का बालक विकास के नाम पर रिमोट संस्कृति में पूर्णतः ढल गया हैं। उसे न तो परिवार के किसी व्यक्ति से कोई लेना देना है और न ही वह परिवार का उत्तरदायित्व वहन करना चाहता है। आज के बालक को उसकी तीसरी पीढ़ी के लोग बकवास और फालतू लगने लगते है। वह अपने आप में इतना उलझा हुआ है कि उसने अपनी माँ को ममी और पिता को डैड के रूप में स्थापित कर दिया।''

आज की स्थिति जब हर बच्चे के हाथ में अभिभावक रिमोट, की–बोर्ड, इंटरनेट पर वैवसाइट तलाशती हुई आँखें तथा हाथों में अठखेलियाँ करता हुआ माउस देखना पसन्द करता है। तो वह अभिभावक आने वाले समाज को क्या देना चाहता है ? मेरे व्यक्तिगत विचार से आज के अभिभावक ने, आज के अध्यापक ने मानवीय मूल्यों पर आधारित शिक्षा देना बन्द कर दिया, इसी का परिणाम है कि स्कूल और कॉलेजों में आये दिन हिंसक वारदातें होतीं हैं। और इन स्कूलों और कॉलेजों के छात्र सड़क पर उतरकर ऐसा तांडव करते हैं, कि कैलाशपति शिव शंकर भी शरमा जायें।

''समाज में सामाजिक परिवर्तन के लिये, समाज में सामाजिक विवर्तन के लिये अभिभावक, अध्यापक और बालक ही जिम्मेवार होते है। और अगर यह अपनी जिम्मेवारी से पीछे हट्ते है तो परिवार क्या, विद्यालय क्या, समुदाय क्या, समाज क्या, नगर क्या, प्रान्त क्या, राष्ट्र क्या, विश्व क्या सभी का सांगठनिक ढ़ॉचा चरमराकर गिर जाता हैं। और गिरे हुये ढॉचें के मलवे से बहुउद्देशीय, बहुमंजलीय आकर्षक इमारत चिर स्थायित्व के साथ नहीं बनाई जा सकती।''
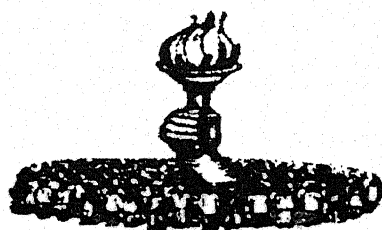
नवम्–अध्याय

अभिभावक अध्यापक संघ का मुख्य उद्देश्य–

विद्यालय के शैक्षिक एवं भौतिक विकास के लिये सामाजिक सहभागिता जुटाने के उद्देश्य से अध्यापक–अभिभावक संघ की उपयोगिता असंदग्धि। इसके माध्यम से विभिन्न अनुपातों में विशेष रूप से शैक्षिक सुधार, आर्थिक साधनों में वृद्धि छात्रों में प्रेरणा एवं अभिभावको की आत्मीयता, अध्यापकों का एक परोक्ष सामाजिक नियन्त्रण और विद्यालय में कार्य संस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अभिभावक अध्यापक संघ एक सफल संस्था हैं।

विभिन्न विद्यालयों ने इस संस्था के माध्यम से निम्न लिखित उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं।

(1) शैक्षिक सुधार की दृष्टि से पी0 टी0 ए0 की भूमिका :–

अभिभवक और अध्यापकों के परस्पर निकट आने से तथा विचार विनिमय करने से शैक्षिक विकास के नये द्वार खुले हैं। अभिभावक अध्यापक एक साथ बैठकर छात्र की सामर्थ्य उसके साधनों की सीमा और उसके परिवेश को ध्यान में रखते हुए, उसकी समस्याओं से परिचित होते हैं, और दोनों मिलकर उन समस्याओं का हल भी ढूडते हैं। जिसका सबसे बड़ा लाभ यह होता हैं, कि छात्र अध्यापकों के कठोर अनुशासन एवं परिवारिक परिस्थितियों के विषमता के संघर्ष जनित तनाव से मुक्ति पा जाता हैं। छात्र को दोनों पक्षों की सहानभूति और साधनों का सांमजस्य प्राप्त हो जाता हैं।

जिसके कारण न हो वह अभिभावकों से विद्रोही हो पाता है और न ही अध्यापकों के प्रति अनुशासन हीन और तनाव रहित वातावरण में वह अपना अध्ययन और शैक्षिक विकास प्राप्त कर लेता हैं। दोनों पक्षों का प्रोत्साहन, प्रेरणा और सहानुभूति उसके चारित्रित विकास को गति देती हैं। और उसमें जूझने की क्षमता उत्पन्न करती हैं। संक्षेप में मानवीय मूल्यों की सही स्थापना होना प्रारम्भ हो जाती हैं। उसके ज्ञान के क्षेत्र विस्तृत होने लगते हैं। इसका भावनात्मक विकास होता हैं। और जीवन के प्रति उसका सौन्दर्य परक दृष्टिकोण हो जाता हैं। पी0 टी0 ए0 की इस दिशा में यह महती उपलब्धि हैं।

(2) विद्यालय के आर्थिक संसाधनों वृद्धि–

अध्यापक अभिभावकों के संघ की स्थापना के कारण अभिभावक बार–बार विद्यालय आते हैं। विद्यालय की भौतिक कमियाँ देखते हैं, और असुविधाओं को अनुभव करते हैं, और उसी के कारण उन कमियाँ को दूर करने की योजना बनाते हैं। तदर्थ दानादि भी दिया करते हैं। जिससे विद्यालय का आर्थिक आधार दृढ़ होता हैं। और भौतिक संसाधनों की पूर्ति होती हैं। विभिन्न विद्यालय में यह पूर्ति निम्न लिखित स्वरूपों में दृष्टिगत हुई :–

(अ) स्वतन्त्र आर्थिक संसाधनों के कारण विद्यालय में होने वाले अध्यापको की सम्पूर्ति कर, छात्रों की पढाई को नियमित किया गया।

(ब) विद्यालय के फर्नीचर की टूट-फूट की मरम्मत एवं नये फर्नीचर की आपूर्ति अभिभावक-अध्यापक संघ के माध्यम से विभिन्न विद्यालयों में की गई।

(स) भवन आदि की सम्पूर्ति / अनेक विद्यालयों में बढ़ती हुए छात्र संख्या के लिये शिक्षण कक्ष, वाचनालय कक्ष, तथा सह शिक्षा वाले विद्यालयों में छात्राओं के लिये विशेष सुविधा सम्पन्न कक्षों का निर्माण अभिभावक अध्यापक संघ के माध्यम से किया गया।

(द) कतिपय विद्यालयों में स्काउटिंग, रेडक्रॉस, खेलकूद आदि क्रिया-कलापों विकास हेतु पी० टी० ए० प्रसंशनीय कार्य किए हैं।

(य) छात्राओं के विद्यालयों में अभिभावक अध्यापक संघ ने छात्राओं के आने जाने हेतु बसों के प्रावधान किए हैं।

(र) निर्धन छात्रों के लिये विद्यालय गणवेश (यूनीफॉर्म), पुस्तकें, चश्में, श्रवण यन्त्र, कापियॉं, आदि वितरण व्यवस्था की हैं।

(ल) किन्ही-किन्ही विद्यालयों में अभिभावक अध्यापक संघों ने शैक्षिक परिभ्रमण पर जाने के लिये यात्रा सुविधाएँ देने का निश्चय किया हैं। जिसके अर्न्तगत रेलवे से प्राप्त कन्शेशन में लगने वाले यात्रा व्यय का प्रावधान किया जाता हैं।

(3) छात्रों को पुरुष्कृत करने की योजना :-

अभिभावक-अध्यापक संघ ने विनियमावली में प्रावधान किया हैं कि योग्य छात्रों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने के लिये पुरुष्कार दिये जायें। छात्रों के मनोवैज्ञानिक झुकाव संस्थाओं की तरफ अधिक होता हैं

जिनके अध्यापक ओर प्रधानाचार्य उनकी बात को सुनते, समझते व सम्मान करते हैं। ऐसे विद्यालयों के लिये अभिभावक बिना किसी आर्थिक लाभ के दिन रात परिश्रम करते हैं और विद्यालय और समाज के बीच में तालमेल स्थापित करते है।

वे विद्यालय की सामाजिक प्रतिष्ठा समाज के उद्घोषक भी हो जाते हैं और विद्यालय तथा विद्यालय के अध्यापकों की प्रतिष्ठा समाज में स्थापित करते है। अतः ऐसे व्यक्तियों को सम्मानित करना उनके गुणों का सामाजिक स्तर पर अभिनंदन करना विद्यालय के व्यापक हित में होता हैं। अनेक संस्थाओं ने ऐसे आयोजन करके महत्वपूर्ण उपलब्धियॉं अर्जित हैं। और अभिभावकों की सर्वविधिक आत्मीयता प्राप्त की हैं।

(4)अध्यापक पर विचारशील परोक्ष सामाजिक नियंत्रण

अभिभावक-अध्यापकों संघ एक प्रकार का ऐसा सामाजिक नियंत्रण है जो परोक्ष रूप से अध्यापको पर नियंत्रण रखता हैं। माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था में परस्पर तालमेल न होने के कारण, अध्यापक नियन्त्रण विहीनता की स्थिति अनुभव करने लगे थे। अध्यापकों का चयन शिक्षा सेवा आयोग से होता हैं। नियुक्ति पत्र विद्यालय प्रबन्ध तन्त्र देता हैं, कार्य प्रधानाचार्य लेता हैं, वेतन विभाग देता हैं किसी भी स्तर पर अध्यापक के नियोजन में ताल-मेल नहीं हैं। इसी प्रकार आवंछित और दोषी अध्यापक को दण्डित करने का विधान भी निम्न लिखित एजेन्सियों से पूरा होता है।

प्राथमिक शिकायत प्रधानाचार्य के स्तर से प्रारम्भ होती हैं। शैक्षिक विकास में यह योजना सबसे अधिक सार्थक हुई हैं। दण्ड और पुरूष्कार का सिद्धान्त क्षमता विकास और प्रतियोगिता पनपाने के लिये अति आवश्यक हैं। इसीलिये इस योजना को विनियमावली में सम्मलित किया गया हैं। छात्रों को दिये जाने वाले पुरूष्कार अनेक प्रकार के हैं। कहीं पाठ्न सामाग्री, कहीं प्रशास्ति पत्र प्रदान करके यह पुरूष्कार प्रदान किये जाते हैं। पुरूष्कार प्राप्त छात्र इससे गौरव का भाव अनुभव करता है। जबकि अन्य लोगों में प्रतियोगिता का भाव जाग्रत होता हैं।

(5)अभिभावक सम्मान की योजना-

पी० टी० ए० के संशोधित स्वरूप में छात्रों को पुरूष्कृत करने के साथ ही साथ अध्यापकों को सम्मानित करने की योजना भी सन्निहित हैं। इस योजना के अन्तर्गत उन अभिभावकों को सम्मानित किया जाता है। जो आदर्श अभिभावक हो। अर्थात जो छात्र के विकास के लिये विद्यालय का सर्वविधि सहयोग करते हों, विद्यालय के विकास हेतु जिनका प्रसंशनीय योगदान रहा हैं। यह योगदान आर्थिक दान के रूप में, विशिष्ट सहयोग (विभागीय कार्यकलापों से) के रूप में, तथा अभिभावक-अध्यापक संघ में प्रसंशनीय सेवाएँ जिन्होंने की हों। यह योजना अभिभावकों विद्यालय की ओर आकर्षित करने, उनका उदार सहयोग प्राप्त करने एवं उनकी आत्मीयता को अर्जित करने के उद्देश्य से की गई हैं। अभिभावक विद्यालय का तो वेतन भोगी हैं और न पारिश्रमिक भोगी (मानदेय भोगी) हैं। और विद्यालय के प्रति उसकी सेवाएँ प्राप्त करने का ही यही एक मात्र आधार हैं। प्रायः अभिभावकों का प्रबन्ध तन्त्र दण्ड का प्रस्ताव करता हैं। विभाग प्रस्तावित दण्ड को अनुमोदन के संस्तुति करता हैं। माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग दण्ड को अनुमोदित करता हैं। और प्रबन्ध तन्त्र दण्ड को क्रियान्वित करता हैं। इस प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर कोई भी चूक हो जाने के फलस्वरूप प्रस्तावित दण्ड नहीं दिया जा सकता। इन जटिल प्रक्रिययाओं के कारण अध्यापक अपनी सेवा सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहता हैं। विभाग और प्रबन्ध तन्त्र की दोहरी नियन्त्रणता ने अध्यापक की नियत्रंणहीनता स्थापित कर दी हैं। ऐसी स्थिति में अध्यापक अभिभावक संघ अध्यापकों के ऊपर एक विचार शील परोक्ष सामाजिक नियंत्रण का कार्य करता हैं। अध्यापक की अच्छाइयों और बुराइयों के आधार पर

उसका मूल्यॉकन करता हैं। और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा असम्मान स्थापित करने में परम् सहायक होता है।

(6) कार्य संस्कृति के निर्माण में प्रधानाचार्यो का सहायक :-

माध्यमिक शिक्षा के शीर्ष पर स्थित प्रधानाचार्य अत्यन्त एकाकी एवं कार्य संस्कृति का नियामक होने की भूमिका अदा करता है। संस्था में एकाकी और अनुपात में 1/40 की स्थिति में रहकर भी प्रधानाचार्य विद्यालय और विद्यार्थियों के हितार्थ में उसे, कभी छात्रों के संगठनों, कभी अध्यापक संगठनों से, कभी शिक्षणोत्तर कर्मचारियों के संगठनों से सत्त जूझना पड़ता हैं। साथ ही उसे विभाग, प्रबन्ध तन्त्र, अभिभावक-अध्यापक एवं छात्रों के पॉच-पॉच मोर्चो को सम्भालना पडता हैं। एकाकी प्रधानाचार्य को विद्यालय में कार्य संस्कृति की स्थापना की चिन्ता होती हैं। जिसके लिये वह एक मेव उत्तरदायी हैं। पी० टी० ए० ने इस दिशा में प्रधानाचार्य को हर प्रकार का सहयोग और सम्बल दिया।

एसोसियेशन के उद्देश्य-

एसोसियेशन के निम्नलिखित उद्देश्य होगें :-

(1) संस्था के स्थानीय समाज के पारस्परिक संबंध को बढ़ाना।

(2) संस्था की समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना और स्थानीय समाज के भौतिक, आर्थिक और नैतिक सहयोग से उनके निराकरण के लिए प्रयास करना।

(3) समाज की नई शैक्षिक योजनाओं के संचालन और क्रियान्वयन के लिये स्थानीय समाज का सहयोग प्राप्त करना।

(4) स्थानीय समाज की शैक्षिक एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं को पहचान कर उनके अनुकूल नवीन विषयों का पाठ्य विषयों में समावेश करने की संस्तुति करना।

(5) "विद्यालय यथार्थ में स्थानीय समाज का आलोक स्तम्भ है" इस भावना को सम्पुष्ट करना।

(6) संस्था में अध्ययनरत छात्रों के सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उन्नयन के लिय योजनायें एवं कार्यक्रम बनाने में मार्गदर्शन एवं सहयोग देना।

(7) प्रबन्ध समिति एवं प्रधानाचार्य को संस्था के सुचारू रुप से संचालन के लिए परामर्श एवं सहयोग देना, जिसमें संस्था के प्रबन्धकीय प्रशासन में हस्तक्षेप करना सम्मिलित नहीं हैं।

(अ) शिक्षा में समाज की सहभागिता–

शिक्षा में समाज की सहभागिता भारत में लोकतांत्रिक उदय से ही अनुभव की जा रही है। सभी लोग जानते है मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज का एक अभिन्न अंग भी। समाज और व्यक्ति का वही सम्बन्ध है जो एक पूर्ण इकाई और उसके एक टुकड़े का । कोई मनुष्य जो समाज रुपी मशीन की एक सक्रिय और उपयोगी पूँजी है, उससे अलग होकर मूल्य रहित हो जाता है। अतः मनुष्य का मूल्य उसी समय तक है जब तक वह समाज से सम्बद्ध है। समाज से जुड़े रहकर ही वह भली प्रकार अपना विकास तथा अपनी उन्नति कर सकता है मनुष्य को अपने हित के साथ-साथ समाज के हितों का भी ध्यान रखना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर सामाजिक हितों के लिए निजी हितों के बलिदान के लिए तत्पर रहना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तियों के अभाव में समाज भी अपूर्ण रहेगा और यदि समाज के मनुष्यों का उचित विकास न हुआ तो समाज का स्तर गिर जायेगा। अतः सामाजिक हितों को दृष्टि में रखकर व्यक्ति का विकास होना चाहिए।

शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया हैं। जो सामाजिक सहभागिता के आधार पर ही सम्पन्न की जा सकती है। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य के विचारात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक, संस्कार बनाये जाते है। व्यक्ति का सामाजीकरण ही उसकी वास्तविक शिक्षा है। सामाजिक सहयोग के अभाव में किसी भी स्तर की कोई शिक्षा किसी भी स्थान पर सम्पन्न नहीं की जा सकती। अतः वर्तमान शिक्षा के ढॉचे में भी सामाजिक शिक्षा जोड़ा जाना अत्यन्त समीचीन है। शिक्षा चाहे विद्यालय में दी जाने वाली औपचारिक शिक्षा हो, अथवा कार्यशालाओ में दी जाने वाली व्यवहारिक शिक्षा हो अथवा समाज के व्यापक क्षेत्र में दी जाने वाली अनौपचारिक शिक्षा हो, सबमें सामाजिक सहयोग अत्यन्त आवश्यक है।

परतन्त्रता के काल में शिक्षा को सामाजिक सहयोगिता से दूर कर उसे राज्याश्रित बना दिया गया था। और विदेशी शासक, शिक्षा के माध्यम से अपने शासन के सहायक बाबू लोगो की फौज खड़ी करना चाहते थे। इसीलिये सरकारी सहायता पर ही विद्यालयों को निर्भर बना दिया गया था। और समाज की सहभागिता से उसे वंचित कर दिया गया था।

अंग्रेजी की इस नीति का यह परिणाम हुआ कि प्रायः विद्यालय सामाजिक सहयोग से कट गयें।

महात्मा गाँधी के सिद्धान्तों पर बुनियादी शिक्षा के प्रारम्भ ने समाज

के विभिन्न वर्गो, शिल्पकारो, दस्तकारो, बनुकरो, बढ़ईयों, लुहारों, और किसानों का सहयोग प्राप्त करने के लिये उनके वर्ग से सम्बन्धित शिल्पों की शिक्षा, बुनियादी शिक्षा में जोड़ी । सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के तहत अनेकों विद्यालय, सामाजिक सहभागिता के आधार पर राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत होकर खोले गये और शिक्षा, सामाजिकता के निकट आयी और सामाजिक सहयोग के नये आयाम प्रारम्भ हुए।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा का विकास हुआ, नयी-नयी संस्थाएँ सामाजिक सहभागिता के आधार पर प्रारम्भ हुई। जिन्हें राज्यकोष से मात्र कुछ सहायता ही प्राप्त होती थी। विद्यालय को शेष आवश्यकताओं के लिये जन-सहयोग ही आधार था।

देश में पूँजी वादी व्यवस्था के विस्तार के साथ ही विद्यालय के आर्थिक ढाँचे पर पूँजीपतियों का शिंकजा कसता चला गया। परिणाम ये हुआ कि आम जनता के सहयोग से विद्यालय दूर हो गये।

आजादी के 40 वर्ष वाद राजनैतिक समीकरणों में परिवर्तन हुए, गाँधीवादी विचार धारा पोषक एक पार्टी के हाथ से सत्ता गई । और फिर सत्ता नये-नये दलो के हाथ आ गई। और उन्होने अपने सिद्धान्तानुसार शिक्षा व्यवस्था में तथा शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन किये परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण राष्ट्र में शिक्षा के क्षेत्र में विविधता आती गयी।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 से अभिभावकों की शिक्षा में सहभागिता प्रदत्त कर एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। इस राष्ट्रीय शिक्षा के एकात्मक स्वरूप से अभिभावक अध्यापक एसोसियेशन का एक सम्बल मिला।

अभिभावक अध्यापक संघ का जब राष्ट्रीय कार्यपरिषद का गठन हो चुका है। और यह पी0टी0ए0 नामक पत्रिका का मासिक प्रकाशन होता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति के अनुसार स्थापित नवोदय विद्यालयों में भी अभिभावक अध्यापक एसोसियेशन का गठन सन् 1992 से होना शुरू हुआ।

(ब) समाजीकरण(Socialization)-

मानव सामाजिक प्राणी है। मानव का सामाजिक बनना एक लम्बी प्रक्रिया है, बालक जन्म लेते ही समाज में आता है और अपनी लाई हुई जन्मजात शक्तियों को सामाजिक वातावरण में विकसित करके सामाजिक बनने का प्रयास करता है। जब बालक जन्म लेता है उसमें सामाजिकता का कोई लक्ष्य नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु शनैःशनैः वह सामाजिक वातावरण से प्रभावित होने लगता है और उसका समाजीकरण होने लगता है।

समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें अनेक प्रकार की

उपक्रियाएँ सम्मिलित रहती है। ये उपक्रियाएँ जन्म से मृत्युपर्यन्त निरन्तर चलती रहती है और मानव को सामाजिक बनाने मे योग देती है। समाजीकरण में शैशव से ही मामव समाज में प्रचलित परम्पराओं, मान्यताओं, आकांक्षाओं, सामाजिक उद्देश्यों और संस्कृति के अनुपात में लग जाता है और उनके प्रभाव में आकर उनके ही अनुरूप व्यवहार करने लगता है। वह इस समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्तिगत रहन-सहन, धर्म, नैतिकता और सामाजिक आचरण को ग्रहण करके वैसे ही कार्य और व्यवहार करना प्रारम्भ करता है जो समाज द्वारा मान्य होते है। समाज द्वारा मान्य व्यवहारों के करने से मानव की प्रशंसा होती है और उसक सामाजिक मान लिया जाता है। इस प्रकार समाज के विविध अंग व्यक्ति को सामाजिक आचरण करने का अवसर देते है, और उसे सामाजिक बनाने में सहयोग देते है।

समाजीकरण की प्रक्रिया सदैव समान गति की नहीं रहती। व्यक्ति की आयु जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, उसके समाजीकरण की गति मन्द होती जाती है। परन्तु शैशवकाल, बाल्यकाल एवं किशोरावस्था में समाजीकरण की गति तीव्र रहती है। समाज की विविध बातें और वातावरण प्रारम्भ की अवस्थाओं में नवीन होती हैं जिन्हें जानने और अपनाने के लिए व्यक्ति जिज्ञासु होता है और आयु बीतने पर यह नवीनता कम होने लगती है। फलतः व्यक्ति की जिज्ञासा में न्यूनता आने से उसके समाजीकरण की गति भी मन्द हो जाती है। व्यक्तियों में एक सा ही समाजीकरण नहीं मिलता, क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के समाज एक-दूसरे से भिन्न होते है। प्रगतिशील समाज में समाजीकरण तीव्र होता है।

समाज का स्वरूप एकात्मक होते हुए भी विविध सामाजिक अंगों से युक्त होता है। व्यक्ति अपने शैशय से ही विविध समाजों में से होकर आगे बढ़ता है, और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सामाजिकता प्राप्त करता है। विविध सामाजिक अंगो में परिवार माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध, कुटुम्ब का परिवर्तन, परिवार के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, बन्धुत्व, पड़ोस और संगत, जाति-स्तर, सामाजिक उद्वेग, धर्म और संघ, संस्कृति और विद्यालय उल्लेखनीय है। इनका समाजीकरण में क्या योग होता है, यह अध्ययन करना आवश्यक है। इसका अध्ययन निम्न अंगों के अर्न्तगत किया जा सकता है-

(1) परिवार और समाजीकरण **(Family and Socialization)**
(2) माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध और समाजीकरण **(Mutual Relationship between Parents and Socialization)**
(3) कुटुम्ब का परिवर्तन और समाजीकरण **(Change of Family and Socialization)**
(4) परिवार के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध और समाजीकरण **(Mutual Relations between Family Members and Socialization)**
(5) बन्धुत्व एवं समाजीकरण **(Brotherhood and Socialization)**
(6) पड़ोस, संगत और समाजीकरण **(Neighbourhood, Com pany and Socialization)**

(७) जातीय स्तर और समाजीकरण(**Ethnic Status and Socialization)**

(८) सामाजिक उद्वेग और समाजीकरण **(Social Anxiety and Socialization)**

(९) सामाजिक एवं आर्थिक स्तर और समाजीकरण **(Social and Economic Status and Socialization)**

(१०)धर्म एवं समाजीकरण **(Religion and Socialization)**

(११)संस्कृति और समाजीकरण **(Culture and Socialization)**

(१२)व्यक्तिगत सामर्थ्य और समाजीकरण **(Individual Capacity and Socialization)**

(१३)विद्यालय और समाजीकरण **(School and Socialization)**

(स) विद्यालयों की समस्याओं, सीमाओं, आवश्यकताओं तथा छात्रों की कठिनाइयों को पारस्परिक समझ द्वारा सुलझाने एवं उनमें तालमेल स्थापित करना-

सामन्यतः परिवार में माता-पिता अनावश्यक व्यस्तता के कारण बालक को स्वयं शिक्षा नहीं दे पाते, और इस प्रकार उसके समुचित विकास की ओर ध्यान नहीं देते है। ऐसी स्थिति में माता-पिता बालकों को स्कूल भेज देते हैं। सभ्यता के शैशव काल में सामाजिक आवश्यकताओं का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था और मनुष्य को थोड़ा मिल जाने पर महान सन्तोष की अनुभूति होती थी। उस समय आधुनिक युग के समान जीवन की जटिल समस्याएँ भी नहीं थी। अतः उस समय बालक की अधिकांश शिक्षा-दीक्षा परिवार अर्न्तगत ही होती थी। किन्तु वर्तमान समय में मानव-जीवन की समस्याएँ दिन-प्रतिदिन दुरुह और विषम होती जा रही हैं। समस्याओं के सफल समाधान के लिए प्रत्येक को एक विशेष ढंग की निपुर्णता अथवा कुशलता का ज्ञान होना आवश्यक है। यह कुशलता बालक स्कूल के सहयोग से सुगमतापूर्वक सीख लेते है। इसी कारण बालकों को स्कूल में शिक्षा देने की एक परम्परा बन गई है, साथ ही शिक्षण सम्बन्धी अनेकानेक वैज्ञानिक विधियों का आविष्कार हो रहा है और लोग शिक्षा-दर्शन तथा शिक्षा-शास्त्र के महत्व को समझ रहे हैं। स्कूल एक ऐसा स्थान है, जो बालक को उसके आस-पड़ौस तथा परिवार के खराब वातावरण से दूर रखता है। स्कूल जाए बिना बालक का व्यक्तित्व-विकास एकांगी और एकपक्षीय हो जाता है। वस्तुतः स्कूल में जाने से बालक को तरह-तरह के अनुभव प्राप्त होते है, जो उसके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते है।

समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता करना स्कूल का कर्तव्य होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, स्कूल का स्वरूप एक सामाजिक संस्था

(Social Institution) जैसा ही है, व्यक्तियों को कुशल, अनुशासित और व्यवस्थित समाज का सदस्य बनने की ओर उन्मुख किया जाता है। इसलिए स्कूल जहाँ पर भी स्थित हो उसे आस-पास के पर्यावरण की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में निश्चित रूप से चिन्ता करनी चाहिए। वातावरण की भिन्नता सें आवश्यकताओं का स्वरूप भी भिन्न होता जाता है। गाँव में रहने वाले बालकों की आवश्यकताएँ नगर के बालकों की अपेक्षा भिन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव गाँव अथवा नगर में स्कूल के कार्यक्रमों का निर्धारण करने के पूर्व समीप के सामाजिक वातावरण (Social Environment) का अध्ययन करना जरूरी है। नगर के स्कूलों के कार्यक्रमानुसार गाँव के स्कूल चलाने पर स्कूल का परिश्रम विफल होने की आशंका रहती है।

स्कूल के क्षेत्र के अर्न्तगत बालक का सर्वागींण विकास होता है। पहले स्कूलों का कर्त्तव्य विविध विषयों अथवा शास्त्रों के सम्बन्ध में बालक को ज्ञान अर्जित कराना था, किन्तु अब यह आवश्यक है कि स्कूल बालक के शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास के सभी पहलुओं पर ध्यान दें। वास्तव में स्कूल का क्षेत्र अब अध्यापन कार्य ही नहीं, अपितु बालक के व्यक्तित्व का 'विकास' करना हो गया है। अतएव स्कूल का उद्देश्य बालक की स्वाभाविक रूचियों के आधार पर शिक्षा देने का होना चाहिए। बालक की इन रूचियों का अध्ययन उनके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखकर हो सकता है।

स्कूल का प्रधान दायित्व अथवा उद्देश्य बालक की रूचियों पर ध्यान रखते हुए वात्सल्यपूर्ण ढंग से उसकी अनेक शक्तियों के विकास में योगदान देना है। इस सम्बन्ध में स्कूल के द्वारा अभिभावकों, संरक्षकों तथा माता-पिता आदि का सहयोग अपेक्षित होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका शिक्षकों की अपेक्षा बालक के अधिक सम्पर्क रहना है और इस प्रकार वे बालक की रूचियों की भली-भाँति अध्ययन कर सकते है। शिक्षकों का भी कर्तव्य है कि कभी-कभी वे अभिभावकों से बालक के सम्बन्ध में सलाह लेते रहें और उनकी सहायता से बालकों के चरित्रिक विकास की ओर जागृत रहें।

सामान्यतः अभिभावक यह प्रयास करते देखे गए है कि उनके बालक अच्छे विद्यालय में प्रवेश पा जाएँ। अच्छे विद्यालय की खोज का करण एकमात्र बालकों की पुस्तकीय शिक्षा के अच्छे होन मात्र से नहीं, वरन् इस बात से भी है कि उनके बालकों को अच्छे विद्यालय में अच्छे बालकों की संगति मिल सकेगी। और उनका समाजीकरण अच्छी प्रकार होने लगेगा।वास्तव में विद्यालय बालकों में समाजीकरण की प्रगति को नया और तीव्र वेग देने वाला होता है। 6 वर्ष की आयु तक बालक माता-पिता और परिवार के सदस्यों के मध्य रहकर अपना समाजीकरण करता है। परन्तु जैसे ही वह 6 वर्ष के बाद विद्यालय आता है तो उसे वहाँ अपनी आयु के विविध समाजों से आये बालक मिलते है। उन बालकों के बहुत से आचरण, व्यवहार उनसे भिन्न होते है। बालक ऐसी स्थिति में किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते है और सोचने लगता है कि वह कैसा आचरण करे? परन्तु धीरे-धीरे वह उनके सम्पर्क में आकर अपने को अनुकूलित कर लेता है और उसका समाजीकरण द्रुत गति से होने लगता है।

इस स्तर पर अध्यापक का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। अध्यापक को चाहिए कि वह अपने उत्तम व्यक्तित्व से बालकों की समाजीकरण की प्रवृत्ति का सुदिशा प्रदान करे। अध्यापक बालक के माता-पिता का स्थान ग्रहण किए हुए होते है, उसे बालकों के सम्मुख सर्वमान्य सामाजिक आदर्श व्यवहार प्रस्तुत करना चाहिए जिससे बालकों को अनुकूल सामाजिक व्यवहार करने में दिशा और सीख मिल सके। विद्यालय में ही बालक का शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, संवेगात्मक और नैतिक विकास होता है। यह विकास बालक को समाजीकरण प्राप्त करने में सहयोग देता है। स्कूल जाने वाले बालक का व्यवहार घर पर रहने वाले बालक से अधिक सामाजिक हो जाता है।

विद्यालय के अच्छे और बुरे होने से बालक के समाजीकरण की प्रगति निर्भर करती है। अच्छे विद्यालयों में अच्छे बालक और अच्छे अध्यापक होते है, जो अच्छा वातावरण तैयार करते है। उनका समाजीकरण पर बहुत अच्दा प्रभाव पड़ता है। बुरे विद्यालय में उपरोक्त वातावरण बुरा होने से बालक का समाजीकरण अच्छी प्रकार नहीं हो पाता। इसलिए विद्यालयों का वातावरण सुधार पूर्ण होना आवश्यक है।

विद्यालयों की समस्याओं, विद्यालयों की सीमाओं, विद्यालयों की आवश्यकताओं तथा छात्रों की कठिनाईयों अध्यापक और अभिभावक संघ की पारस्परिक समझ द्वारा वर्तमान समय में सुलझाने के प्रयास हो रहे हैं। इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि अध्यापक और अभिभावक अधिक से अधिक एक दूसरे के सम्पर्क में रखा जाय क्योंकि अध्यापक और अभिभावक का ताल-मेल ही बालक के स्वर्णिम भविष्य का संकेत देता है। बालक की प्रवृत्ति चाहे शैक्षिक हो या सामाजिक हो दोनों ही जगह अध्यापक और अभिभावक की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अध्यापक शैक्षिक आवश्यकतायें तो पूरी कर देता है लेकिन छात्र की पठ्न पाठ्न की सामग्री की व्यवस्था अभिभावक द्वारा की जाती है। साथ ही अभिभावक छात्र या बालक की मूल भूत आवश्यकताएँ तो पूरी कर देते है, लेकिन छात्र या बालक की शैक्षिक आवश्यकतायें पूरी करने का उत्तरदायित्व अध्यापक के ऊपर छोड़ देते है। ऐसी स्थिति में बालक का सर्वागींण विकास अध्यापक और अभिभावक के ताल-मेल के साथ स्थापित होता है।
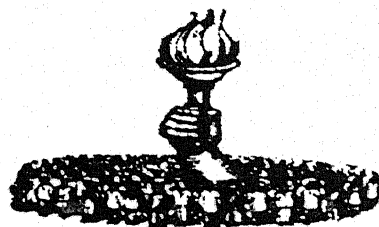
दसम्—अध्याय

अभिभावक-अध्यापक संघ की उपलब्धियाँ, निष्कर्ष पुर्नसुधार हेतु सुझाव-

(अ) अभिभावक-अध्यापक संघ की उपलब्धियाँ-

अभिभावक-अध्यापक संघ की मौलिक उपलब्धि शैक्षिक जगत में आई अन्यमनस्कता को दूर करना है। अभिभावक और अध्यापकों के परस्पर निकट आने से तथा विचार विनिमय करने से शैक्षिक विकास के नये द्वार खुले हैं। अभिभावक अध्यापक एक साथ बैठकर छात्र की सामर्थ्य उसके साधनों की सीमा और उसके परिवेश को ध्यान में रखते हुए, उसकी समस्याओं से परिचित होते हैं, और दोनों मिलकर उन समस्याओं का हल भी ढूड़ते हैं। जिसका सबसे बड़ा लाभ यह होता हैं, कि छात्र अध्यापकों के कठोर अनुशासन एवं परिवारिक परिस्थितियों के विषमता के संघर्ष जनित तनाव से मुक्ति पा जाता हैं। छात्र को दोनों पक्षों की सहानभूति और साधनों का सांमजस्य प्राप्त हो जाता हैं। जिसके कारण न हो वह अभिभावकों से विद्रोही हो पाता है और न ही अध्यापकों के प्रति अनुशासन हीन और तनाव रहित वातावरण में वह अपना अध्ययन और शैक्षिक विकास प्राप्त कर लेता हैं। दोनों पक्षों का प्रोत्साहन, प्रेरणा और सहानुभूति उसके चारित्रित विकास को गति देती हैं। और उसमें जूझने की क्षमता उत्पन्न करती हैं। संक्षेप में मानवीय मूल्यों की सही स्थापना होना प्रारम्भ हो जाती हैं। उसके ज्ञान के क्षेत्र विस्तृत होने लगते हैं। इसका भावनात्मक विकास होता हैं। और जीवन के प्रति उसका सौन्दर्य परक दृष्टिकोण हो जाता हैं। पी० टी० ए० की इस दिशा में उपलब्धि में महती हैं।

अध्यापक अभिभावकों के संघ की स्थापना के कारण अभिभावक बार-बार विद्यालय आते हैं। विद्यालय की भौतिक कमियाँ देखते हैं, और असुविधाओं को अनुभव करते हैं, और उसी के कारण उन कमियाँ को दूर करने की योजना बनाते हैं। तदर्थ दानादि भी दिया करते हैं। जिससे विद्यालय का आर्थिक आधार दृढ होता हैं। और भौतिक संसाधनों की पूर्ति होती हैं। विभिन्न विद्यालय में यह पूर्ति निम्न लिखित स्वरूपों में दृष्टिगत हुई :-

(अ) स्वतन्त्र आर्थिक संसाधनों के कारण विद्यालय में होने वाले अध्यापको की सम्पूर्ति कर, छात्रों की पढ़ाई को नियमित किया गया।

(ब) विद्यालय के फर्नीचर की टूट-फूट की मरम्मत एवं नये फर्नीचर की आपूर्ति अभिभावक-अध्यापक संघ के माध्यम से विभिन्न विद्यालयों में की गई।

(स) भवन आदि की सम्पूर्ति / अनेक विद्यालयों में बढ़ती हुए छात्र संख्या के लिये शिक्षण कक्ष, वाचनालय कक्ष, तथा सह शिक्षा वाले विद्यालयों में छात्राओं के लिये विशेष सुविधा सम्पन्न कक्षों का निर्माण अभिभावक अध्यापक संघ के माध्यम से किया गया।

(द) कतिपय विद्यालयों में स्कउटिंग, रेडक्रॉस खेलकूद आदि क्रिया-कलापों विकास हेतु पी० टी० ए० प्रसंशनीय कार्य किए हैं।

(य) छात्राओं के विद्यालयों में अभिभावक अध्यापक संघ ने छात्राओं के आने जाने हेतु बसों के प्रावधान किए हैं।

(र) निर्धन छात्रों के लिये विद्यालय गणवेश (यूनीफॉर्म), पुस्तकें, चश्में, श्रवण यन्त्र, कापियॉं, आदि वितरण व्यवस्था की हैं।

(ल) किन्हीं-किन्हीं विद्यालयों में अभिभावक अध्यापक संघों ने शैक्षिक परिभ्रमण पर जाने के लिये यात्रा सुविधाएँ देने का निश्चय किया हैं। जिसके अर्न्तगत रेलवे से प्राप्त कन्शेशन में लगने वाले यात्रा व्यय का प्रावधान किया जाता हैं।

अभिभावक-अध्यापक संघ ने विनियमावली में प्रावधान किया हैं कि योग्य छात्रों को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने के लिये पुरुष्कार दिये जायें। छात्रों के मनोवैज्ञानिक झुकाव संस्थाओं की तरफ अधिक होता हैं जिनके अध्यापक ओर प्रधानाचार्य उनकी बात को सुनते, समझते व सम्मान करते हैं। ऐसे विद्यालयों के लिये अभिभावक बिना किसी आर्थिक लाभ के दिन रात परिश्रम करते हैं और विद्यालय और समाज के बीच में तालमेल स्थापित करते है।

वे विद्यालय की सामाजिक प्रतिष्ठा समाज के उद्घोषक भी हो जाते हैं और विद्यालय तथा विद्यालय के अध्यापको की प्रतिष्ठा समाज में स्थापित करते है। अतः ऐसे व्यक्तियों को सम्मानित करना उनके गुणों का सामाजिक स्तर पर अभिनंदन करना विद्यालय के व्यापक हित में होता हैं। अनेक संस्थाओं ने ऐसे आयोजन करके महत्वपूर्ण उपलब्धियॉं अर्जित हैं। और अभिभावकों की सर्वविधिक आत्मीयता प्राप्त की हैं।

अभिभावक अध्यापक संघ एक प्रकार का ऐसा सामाजिक नियंत्रण है जो परोक्ष रूप से अध्यापकों पर नियंत्रण रखता हैं। माध्यमिक शिक्षा की वर्तमान व्यवस्था में परस्पर तालमेल न होने के कारण, अध्यापक नियन्त्रण विहीनता की स्थिति अनुभव करने लगे थे। अध्यापकों का चयन शिक्षा सेवा आयोग से होता हैं। नियुक्ति पत्र विद्यालय प्रबन्ध तन्त्र देता हैं, कार्य प्रधानाचार्य लेता हैं, वेतन विभाग देता हैं किसी भी स्तर पर अध्यापक के नियोजन में तालमें नहीं हैं। इसी प्रकार आवंछित और दोषी अध्यापक को दण्डित करने का विधान भी निम्न लिखित एजेन्सियों से पूरा होता है।

प्राथमिक शिकायत प्रधानाचार्य के स्तर से प्रारम्भ होती हैं। शैक्षिक विकास में यह योजना सबसे अधिक सार्थक हुई हैं। दण्ड और पुरुष्कार का सिद्धान्त क्षमता विकास और प्रतियोगिता पनपाने के लिये अति आवश्यक हैं। इसीलिये इस योजना को विनियमावली में सम्मलित किया गया हैं। छात्रों को दिये जाने वाले पुरुष्कार अनेक प्रकार के हैं। कहीं पाठ्य सामाग्री, कहीं प्रशास्ति पत्र प्रदान करके यह पुरुष्कार प्रदान किये जाते हैं। पुरुष्कार प्राप्त छात्र इससे गौरव का भाव अनुभव करता है। जबकि अन्य लोगों में प्रतियोगिता का भाव जाग्रत होता हैं।

पी० टी० ए० के संशोधित स्वरूप में छात्रों को पुरुष्कृत करने के साथ ही साथ अध्यापकों को सम्मानित करने की योजना भी सन्निहित हैं। इस योजना

के अन्तर्गत उन अभिभावकों को सम्मानित किया जाता है। जो आदर्श अभिभावक हो। अर्थात जो छात्र के विकास के लिये विद्यालय का सर्वविधि सहयोग करते हों, विद्यालय के विकास हेतु जिनका प्रसंशनीय योगदान रहा हैं। यह योगदान आर्थिक दान के रूप में, विशिष्ट सहयोग (विभागीय कार्यकलापों से) के रूप में, तथा अभिभावक-अध्यापक संघ में प्रसंशनीय सेवाएँ जिन्होनें की हों। यह योजना अभिभावकों विद्यालय की ओर आकर्षित करने, उनका उदार सहयोग प्राप्त करने एवं उनकी आत्मीयता को अर्जित करने के उद्देश्य से की गई हैं। अभिभावक विद्यालय का तो वेतन भोगी हैं और न पारिश्रमिक भोगी (मानदेय भोगी) हैं। और विद्यालय के प्रति उसकी सेवाएँ प्राप्त करने का ही यही एक मात्र आधार हैं। प्रायः अभिभावकों का प्रबन्ध तन्त्र दण्ड का प्रस्ताव करता हैं। विभाग प्रस्तावित दण्ड को अनुमोदन के संस्तुति करता हैं। माध्यमिक शिक्षा सेवा आयोग दण्द को अनुमोदित करता हैं। और प्रबन्ध तत्र दण्ड को क्रियान्वित करता हैं। इस प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर कोई भी चूक हो जाने के फलस्वरुप प्रस्तावित दण्ड नहीं दिया जा सकता। इन जटिल प्रक्रिययाओं के कारण अध्यापक अपनी सेवा सुरक्षा के प्रति आश्वस्त रहता हैं। विभाग और प्रबन्ध तन्त्र की दोहरी नियन्त्रणता ने अध्यापक की नियत्रंणहीनता स्थापित कर दी हैं। ऐसी स्थिति में अध्यापक अभिभावक संघ अध्यापकों के ऊपर एक विचार शील परोक्ष सामाजिक नियंत्रण का कार्य करता हैं। अध्यापक की अच्छाइयों और बुराइयों के आधार परउसका मूल्याँकन करता हैं। और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा असम्मान स्थापित करने में परम् सहायक होता है।

माध्यमिक शिक्षा के शीर्ष पर स्थित प्रधानाचार्य अत्यन्त एकाकी एवं कार्य संस्कृति का नियामक होने की भूमिका अदा करता है। संस्था में एकाकी और अनुपात में 1/40 की स्थिति में रहकर भी प्रधानाचार्य विद्यालय और विद्यार्थियों के हितार्थ में उसे-कभी छात्रों के संगठनों, कभी अध्यापक संगठनों से, कभी शिक्षणोत्तर कर्मचारियों के संगठनों से सतत् जुझना पड़ता हैं। साथ ही उसे विभाग, प्रबन्ध तन्त्र, अभिभावक, अध्यापक एवं छात्रों के पाँच-पाँच मोर्चो को सम्भालना पड़ता हैं। एकाकी प्रधानाचार्य को विद्यालय में कार्य संस्कृति की स्थापना की चिन्ता होती हैं। जिसके लिये वह एक मेव उत्तरदायी हैं। पी० टी० ए० ने इस दिशा में प्रधानाचार्य को हर प्रकार का सहयोग और सम्बल दिया।

(ब) निष्कर्ष एवं पुर्नसुधार-

अभिभावक-अध्यापक संघ की उपलब्धि को वर्तमान समय में कोई चुनौती नहीं दे सकता लेकिंन अभिभावक-अध्यापक संघ के वर्तमान सांगठनिक ढाँचे में विभिन्न प्रकार की कमियाँ दिखाई दी। ये कमियों निम्नलिखित है-

(1) आय से अधिक व्यय-

पी० टी० ए० (यदि उसका विधि वत् कार्य संचालन किया जावे तो) ज्ञात होगा कि इस संस्था का वित्तीय ढाँचा एक दम कमजोर हैं। न तो सदस्यता

शुल्क आय हैं और न कोई राजकीय अनुदान, न ही कोई निश्चित आय। ऐसी स्थिति में मात्र स्वैच्छिक दान द्वारा ही छात्र विकास एवं विद्यालय विकास के कार्यक्रम संचालित करने का दायित्व अभिभावक-अध्यापक संघ के ऊपर है, विद्यालय के सम्पूर्ण अभावों की पूर्ति भी संघ का लक्ष्य हैं। प्रायः सभी विद्यालयों में यह संघ आर्थिक तंगी के दौर से गुजर रहा है। इसमें आय अति न्यून और व्यय भार अत्याधिक है। इस स्थिति से निपटने के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जा रहे है-

(1) सभी अभिभावक सदस्यों से मासिक त्रैमासिक, षट्मासिक अथवा वार्षिक सदस्यता शुल्क का प्रावधान किया जावें।

(2) प्रत्येक पी० टी० ए० को सरकार आर्थिक सहायता के रूप आर्वतक एवं अनावर्तक अनुदान देने का प्रावधान करें, जिस प्रकार प्रबन्ध तन्त्रों को अनुदान दिये जाते है।

(3) समाज के धनी-मानी एवं सम्पन्न व्यक्तियों से दान लेना यथावत् चालू रखा जाये।

(4) अच्छे अभिभावक अध्यापक संघों को राज्य व केन्द्र सरकार द्वारा पुरूष्कृत किया जाना चाहिए व उन्हें सम्मान दिया जाना चाहिए।

(2) निर्वाचन को लेकर गुटबाजी-

यद्यपि वर्तमान नियमावली में अभिभावक अध्यापक संघों के निर्वाचन को सर्वानुमति के माध्यम से संस्कारित करने की चेष्टा की गई हैं। फिर भी चुनाव के बुरे पहलू पूरी तरह से समाप्त नहीं हुए हैं। प्रतिवर्ष चुनाव होने के कारण गुटबाजी भी प्रतिवर्ष नवीन हो जाती हैं। अध्यापकों-अभिभावकों एवं छात्रों के प्रतिवर्ष नये-नये समीकरण देखने को मिलते है। चुनाव में विजयी गुट पराजित गुट की उपेक्षा करता हैं। और पराजित गुट, विजयी गुट को असहयोग, ऐसी स्थिति में प्रधानाचार्य की स्थिति बडी दुविधा पूर्ण होती हैं। उसे कभी पराजित पक्ष का सहारा लेना पड़ता हैं, तो कभी विजयी पक्ष का। इस प्रकार उसे किसी न किसी गुट की कठपुतली बन कर रहना पड़ता हैं। इस गुटबाजी को समाप्त करने के लिये निम्न लिखित उपाय किये जा सकते हैं। -

(1) चुनाव का स्थान पर मनोनयन।
(2) कार्यकारणी में पदाधिकारियों का मनोनयन।
(3) एक निश्चित संख्या से उसी प्रकार किया जाना चाहिए, जिस प्रकार विद्यालय के प्रबन्ध तन्त्र में जिला विद्यालय निरीक्षक एवं उपशिक्षा निदेशक द्वारा शिक्षा विदों का मनोनयन किया जाता हैं।
(4) कार्यकारिणी के सदस्यों की योग्यता का निर्धारण।
(5) पी० टी० ए० के स्वरूप के निखारने एवं उसके स्तरोन्नयन के लिये आवश्यक स्थान है कि कार्यकारणी में योग्य सदस्यों को ही स्थान दिया जावे।

ताकि वे किसी गुटबाजी या क्षुद्र स्वार्थ में न पड़े। और विद्यालय के एवं छात्रों के विकास में अपनी निष्पक्ष भूमिका निभा सकें।

(3)-प्रधानाचार्यो का वर्चस्व -

वर्तमान नियमावली में विभिन्न उपबन्धों द्वारा इस बात की पूरी चेष्टा की गई हैं कि प्रधानाचार्यो के वर्चस्व को सुरक्षित रखा जावे। इस हेतु उन्हें संघ का सर्वोच्च पद संरक्षक प्रदान किया गया हैं। प्रमुख कार्यकारिणी बनाने के दृष्टि से यह प्रावधान भी हैं कि प्रधानाचार्य स्वयं संघ का मंत्री रहे अथवा अपने किसी विश्वास पात्र व्यक्ति को मंत्रित्व का कार्य सौप दें। फिर भी संघ के गठन में प्रधानाचार्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। पूर्ण कार्य कारणी के नियमानुसार उसे चुनाव के समय पूर्ण निश्चित व्यक्तियों का नाम ही प्रस्तावित करने का अधिकार दिया गया हैं। अपने स्वतंत्र चिन्तन और स्वविवेक से किसी व्यक्ति का नाम प्रस्तावित तक नहीं कर सकता ऐसी स्थिति में वह भारत के राष्ट्रपति के समान केवल पूर्ण कार्यकारणी की रबर स्टाम्प ही बन कर रह जाता हैं।

आर्थिक मामलों में उसे छोटे बड़े सभी व्ययों के लिये बैंक से पैसा निकालने हेतु उसे हस्ताक्षर बनाने होते है। पाँच सौ रूपये से कम के लिये कोषाध्यक्ष के साथ और पाँच सौ रूपये से अधिक के लिये अध्यक्ष के साथ उसे संयुक्त हस्ताक्षर बनाकर धनाहरण का पूरा उत्तर दायित्व लेना होता हैं। जबकि उस आहरित धन के व्यय को नियन्त्रित करने का उसे कोई अधिकार नहीं होता।

इस प्रकार शिक्षा संहिता द्वारा प्राप्त आर्थिक उत्तर दायित्वों से विलग्न रहने की उसकी स्थिति भी अब समाप्त कर दी गई हैं।

(4)-विषयवार (कक्षावार) मासिक बैठकों में समय व्यय होने के कारण अध्यापकों में रोज एवं अध्यापकों की अन्य मनस्कता एवं न्यून उपस्थिति-

अभिभावक अध्यापक संघ के सफल क्रियान्वय हेतु विषय वार (कक्षावार) मासिक बैठकों की संस्तुति भी की गई हैं। जो छात्रों के शैक्षिक विकास की मूल धुरी है। इन बैठकों का उद्देश्य यह है कि छात्र के विषय में अध्यापक अपनी धारणा और परामर्श अभिभावकों को दे सके। और अभिभावक अपने पारिवारिक परिवेश की विद्यार्थी विषयक सुविधा असुविधाएँ अध्यापकों को बता सकें। और दोनो पक्षों समन्वित प्रयासों से छात्र की विद्यालय एवं विद्यालय से बाहर की सभी समस्यायें हल की जा सकें। किन्तु व्यवहार में दूसरा ही रूप दिखायी दे रहा हैं।

विषयवार (कक्षावार) मासिक बैठकों में सबसे बड़ी बाधा रविवारीय अवकाश है। ऐसी बैठकें अभिभावकों की सुविधा हेतु रविवार अवकाश के दिन ही रखी जाती है। यह अवकाश का समय अध्यापकों को जब मासिक बैठकों में व्यय करना पड़ता है। तो उसकी वैयक्तिक और पारिवारिक सुविधाओं में कटौती होती हैं। जिसको परिणाम स्वरूप वे व्यक्तिगत रूप से तथा पारिवारिक रूप से बड़े

दुःखी व समस्या ग्रस्त से रहते है। और इस स्थिति में विषयवार (कक्षावार) मासिक बैठकों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है इस बाधा को दूर करने के लिये निम्न लिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे है।

(1) अवकाश के दिनों में यदि बैठकें आयोजित की जाती हैं तो इसके बदले अध्यापकों को प्रतिकार अवकाश प्रदान किया जाय। ताकि वे अपने अवकाश की क्षति पूर्ति कर सके।

(2) अवकाश के दिनों में बैठकें आयोजित न की जावे वरन् कार्य दिवसों में ही विद्यालय समय के उपरान्त उनके आयोजन किये जावें।

(3) मीटिंगों में व्यय होने वाले समय के लिये अध्यापकों को कोई पारिश्रमिक आदि का प्रावधान किया जावें।

(4) अध्यापकों के बैठक में उपस्थित रहने हेतु उनकी सेवा शर्तो में ऐसा परिवर्तन किया जावें कि वे अनिवार्य रूप से बैठकों में उपस्थिति दे और अपना योगदान करें। विपरीत आचरण करने वालों के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा सकें।

(5)-प्रबन्ध तन्त्र का विरोधात्मक रूख-

प्रबन्ध तन्त्र और पी0टी0ए0 दोनो ही विद्यालय और विद्यार्थियों के हितार्थ संगठित किये गये है। किन्तु इन दोनों संस्थाओं में व्यवहारिक सामंजस्य स्थिति नहीं हो सका है।

प्रबन्ध तन्त्र के छिनते हुए अधिकारों के परिवेश में प्रबन्ध तन्त्र अकर्मण्य सा हो गया है। और उसे ऐसा प्रतीत होने लगा है। पी0टी0ए0 के माध्यम से सरकार उनका प्रतिस्थापी संगठन स्थापित कर रही है। प्रबन्ध तन्त्रों को दानादि के लिये निषेध करना तथा अभिभावक अध्यापक संघ को दान देकर स्वीकार करने का अधिकार देना, इस धारणा की जड़ में है। कभी-कभी ऐसे मुद्दे भी आते है, जब पी0 टी0 ए0 का एक प्रस्ताव होता है और प्रबन्ध तन्त्र का उसके विपरीत। भवन निर्माण एवं विद्यालय भवन में आवश्यकतानुसार परिवर्तन, फर्नीचर आदि की उपयुक्तता आदि। ऐसे अनेक बिन्दु है। जिन पर प्रायः टकराहट को जाती है। इस टकराहट में प्रधानाचार्य की स्थिति बड़ी अजीबो-गरीब हो जाती है। प्रबंध तन्त्र की अधीनता में रहने वाला प्रधानाचार्य पी0 टी0 ए0 के संरक्षक होने पर निरीह और असहाय हो जाता है। टकराहट की इस स्थिति से निपटने के लिये जिस समाधान की व्यवस्था की गई है उसके अर्न्तगत विवादित बिन्दु जिला विद्यालय निरीक्षक को संदर्भित कर दिया जाता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है। विभाग के निकट सम्पर्क में रहने के कारण निर्णय प्रायः पी0 टी0 ए0 के पक्ष में जाते है उससे प्रबंध तन्त्र और अधिक कुपित हो जाता है। तथा क्षुद्र और असन्तुष्ट प्रबंध तन्त्र के रोष का शिकार प्रधानाचार्य को होना पड़ता है। उ0प्र0 में ऐसे अनेकों उदाहरण है, जहॉं प्रधानाचार्य को पी0 टी0 ए0 के संरक्षक के रूप में कार्य करना असंभव हो

गया। और टकराहट की स्थिति से बचने के लिये उन्हे विवश होकर या तो संघ भंग करना पड़ा है, या प्रबंध तन्त्र के सम्मुख समपर्ण करना पड़ा है। अथवा संकटों का सामना करना पड़ा है। ऐसे अनेक मामले विभाग एवं न्यायालयों में लम्बित पड़े हुए है। प्रबंध तन्त्र और पी० टी० ए० में तालमेल बैठाने के उद्देश्य से प्रबंध तन्त्र का एक प्रतिनिधि पी० टी० ए० की कार्यकारिणी का सदस्य बनाया जाता है। जो पूरी पी० टी० ए० की कार्यकारिणी में पूरे प्रबंध तन्त्र का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु अकेला होने के कारण उसकी आवाज बहुत क्षींण रहती है। और बहुमत के निर्णय में उसका स्थान नगण्य ही है।

अतः प्रतिनिधित्व की यह प्रणाली भी प्रबंध तन्त्र के असंतोष की टकराहट में दूर करने में कृत कार्य नहीं हो सका है। इस स्थिति से निपटने के लिये निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे है।

(1) प्रबंध तन्त्र के प्रतिनिधियों की संख्या पी० टी० ए० में बढ़ायी जाये।
(2) पी० टी० ए० के प्रस्तावों के कार्यान्वय हेतु संरक्षको को ऐसी शक्तियाँ प्रदान की जावें कि वे प्रबंध तन्त्रो को दबावों से मुक्त होकर कार्य कर सकें।
(3) जहाँ प्रधानाचार्य के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही की जा रही हो, वहाँ के प्रधानाचार्यो द्वारा किये जा रहे पी० टी० ए० से सम्बन्धित कार्यो का दोष सूची में सम्मलित न किया जा सकें।

(6) पी०टी०ए० के सदस्यों द्वारा विधि विपरीत कार्य करने पर दण्ड विधान का अभाव–

वर्तमान पी०टी०ए० के सदस्यों की अर्हता व अनर्ह्यता की उल्लेख तो किया गया है। किन्तु पी०टी०ए० के सदस्यों द्वारा विधि विपरीत कार्य करने हेतु कोई दण्ड विधान का प्रावधान नहीं है। पी०टी०ए० के मुख्यतः तीन प्रकार के सदस्य होते है–

(1) अध्यापक प्रतिनिधि।

(2) अभिभावक प्रतिनिधि।

(3) प्रबंध तन्त्र प्रतिनिधि।

इन तीनों के सदस्यों में विधि सम्मत काम करने की सम्बद्धता अत्यन्त आवश्यक है। अध्यापक प्रतिनिधियों में यह विधि सम्मत कार्य करने की अनिवार्यता उनकी सेवा शर्तो में परिवर्तन करके की जा सकती है।

अभिभावक प्रतिनिधियों को इस हेतु उन्हें सदस्यता से वंचित करके किसी कलॉश विशेष के लिये अयोग्य घोषित करके अथवा कोई आर्थिक दण्ड आरोपित करके की जा सकती है।

इसी प्रकार प्रबंध तन्त्र के प्रतिनिधि को भी दण्ड विधान किया जा

सकता है। यह दण्ड विधान अत्यनत सरल प्रक्रिया का होना चाहिए और इसका स्वाभाव भी निषेधात्मक (Negative) न होकर विधेयात्मक (Positive) होना चाहिए।

अभिभावक–अध्यापक संघ की उर्पयुक्त कमियों के अलावा निम्नलिखित दोष भी अभिभावक संघ में दिखायी दिये–

(1) अभिभावकों से शुल्क न लेना–

अध्यापक अभिभावक एसोसियेशन की विनियमवली के अध्याय दो में कार्यकारिणी का गठन, एवं उसके चुनावादि की प्रक्रियाएं वर्णित है। जिसमें विद्यालय के सभी छात्रों के अभिभावक बिना शुल्क लिये सदस्य बना लिये जाते है। जिससे सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ जाती है। और चुनाव जन–प्रतिनिधियों जैसा दिखने लगता है। अतः यह आवश्यक है कि सदस्यता शुल्य निर्धारित किया जाए, क्योंकि सदस्यता का शुल्क आदि आने से संस्था का जहॉ आर्थिक आधार बनता है, वहीं शुल्क दाता की आत्मीयता भी संख्या के साथ जुड़ती है, और सदस्य को अपने उत्तरदायित्व एवं आधिकारिता का भी ज्ञान होता है। और सदस्यता का शुल्क देने से अभिभावक की यह भी अनुभूति होती है। कि वह विद्यालय के लिए या संस्था के लिये अपने योगदान का अंश दे रहा है।

सदस्यता का शुल्क ऐसा निर्धारित होना चाहिए कि अधिक से अधिक अभिभावक उसके सदस्य बन सके। और विद्यालय एवं छात्रों के विकास में अपनी भूमिका अदा कर सकें। तथा सही मायने सामाजिक सहभागिता को चरित्रार्थ कर सके।

(2) रिटायर्ड अध्यापकों को वंचित करना–

अभिभावक अध्यापक संघ की वर्तमान विनियमावली के चुनाव में भाग लेने हेतु अवकाश प्राप्त अध्यापकों एवं निलम्बित अध्यापकों को अनर्ह्यर्य (अयोग्य) घोषित किया गया है। जहाँ तक निलम्बित अध्यापक का प्रश्न है उसका आयोग्य घोषित करना उचित प्रतीत होता है। किन्तु अवकाश प्राप्त अध्यापक को यह दण्ड क्यों दिया गया स्पष्ट नहीं हैं। वास्तक में पी0 टी0 ए0 की नियमावली में रिटायर्ड अध्यापकों को सम्मलित न करना बहुत बड़ी भूल है। रिटायर्ड अध्यापक समाज का वह आदरणीय व्यक्ति होता है, जिसने शिक्षा विभाग की लम्बी अवधि तक सेवा की हैं। और शैक्षणिक अनुभव विशाल भंडार जिसके पास संग्रहीत हैं। रिटायर्ड होने के कारण उनके पास समय बहुत अधिक होता है।

वे छात्र व विद्यालय की समस्याओं को भली भॉति समझते हैं। और उन समस्याओं के निराकरण के लिये उनके पास व्यवहारिक हल, अपने अनुभव के आधार पर होता है। पर्याप्त समय उपलब्ध होने के कारण, उनकी चिन्तन शक्ति ही केन्द्रित की जा सकती हैं। और उनकी मानसिक क्षमताओं का विद्यालय को लाभ प्राप्त हो सकता हैं। जीवन भर शिक्षा से जुड़े रहने के कारण वे शैक्षिक कार्यक्रमों में विशेष योगदान दे सकते है। पी0 टी0 ए0 का मूल उद्देश्य छात्र

और–विद्यालय का हित हैं। ऐसी स्थिति में अवकाश प्राप्त अध्यापकों को, पी० टी० ए० को आपेक्षित व वंचित कर देना किसी प्रकार न्याय संगत नहीं कहा जा सकता हैं। बल्कि उनको उपेक्षित कर, विद्यालय और पी० टी० ए० स्वयं उनके लोभो से वंचित होता है, जो अत्यन्त दुर्भाग्य पूर्ण हैं।

(3) विषय वार (कक्षावार) मासिक बैठकों को नियमित करना–

अध्यापक अभिभावक एसोसियेशन का संसोधित रूप में कक्षावार (विषयवार) सम्मेलनों की योजना प्रस्तुत की गई है। और अध्याय पॉच विविध में 31वें अनुच्छेद के अर्न्तगत यह प्रावधान किया गया है कि अगस्त मास के प्रथम रविवार को आयोजित एसोसियेशन की आम सभा अथवा आम प्रतिनिधि सभा कार्यकारिणी के चुनाव एवं अन्य कार्यवाही के उपरांत कक्षावार–अभिभावक अध्यापक सम्मेलनों में विभक्त हो जायेगी। और प्रत्येक कक्षा के छात्रों को आगामी सत्र के पढ़ाई के सम्बन्ध में योजना बनायेगी। जिसका कार्यान्वयन संस्था की प्रबन्ध समिति एवं अध्यापक अभिभावक ऐसोसियेशन की कार्यकारिणी द्वारा निर्धारण किया जायेगा। और जिसकी मासिक बैठकें "प्रत्येक मास के प्रथम रविवार को, कार्यकारिणी की बैठक विद्यालय के परिसर में होनी चाहिए।"

उक्त प्रावधान उ० प्र० शासन का अर्ध शासकीय पत्रांक 686/15–14/88/42(3)/86 दिनॉक 7 अप्रैल, 1988 द्वारा किये गये। किन्तु यह संशोधन मात्र कागजी संशोधन होकर रह गये। इन संशोधनों को क्रियान्वित करने में निम्नलिखित बाधाऐ पड़ी :

1– अभिभावकों की अति व्यस्तता के कारण अनुपस्थिती।
2– अध्यापकों को रविवार (अवकाश का दिन) अपनी व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति में व्यतीत करना होता हैं। यदि वे उस दिन वे विद्यालय आते हैं तो उसके बदले में उन्हें किसी अन्य दिन का अवकाश देय होना चाहिए, जिसका प्रावधान इस विनियमावली में नहीं किया गया। अतः अध्यापकों ने अपने अवकाश का दिन अपने लिये व्यय करना उचित माना और वे रविवार के दिनों में अनुपस्थित रहे। अतः उन्हे किसी प्रकार विद्यालय आने को विवश नहीं किया जा सकता।
3– अंशकालिक शिक्षण (ट्युशन) की अधिकता में उलझें रहने के कारण अध्यापकों में प्रत्येक मास के प्रथम रविवार को अपना स्वीकार नहीं किया।
4– विद्यालय में कार्यरत शिक्षणोत्तर कर्मचारियों ने भी अपने रविवार अवकाश का दिन गवॉकर इस कार्यक्रम को सम्पादित करने में कोई रूचि नहीं ली।
5– कतिपय अध्यापकों और अभिभावकों में ऐसे आयोजनों पर लगने वाले समय पर आपत्तियॉं की और सहयोग किया।
6– इस हेतु किसी तरह के पारिश्रमिक का कोई प्रावधान न होने के कारण अध यापकों ने इसे समय का अपव्यय बताया।

यदि विषयावार (कक्षावार) मासिक बैठकों का आयोजन लाभकारी है, तो इस हेतु सम्बन्धित अध्यापकों को पारिश्रमिक, अवकाश की सुविधा, और

उपयोग में आने वाली स्टेशनरी की व्यवस्था आवश्यक है। साथ ही अभिभावकों को आकर्षित करने के लिये स्वल्पाहार इत्यादि की व्यवस्था करने हेतु धन का प्रावधान करना उपयोगी होगा। तभी यह बैठकें (सम्मेलन) सफल हो सकेगी।

(4) अगस्त एवं जनवरी माह में आम सभा की बैठकों की एक निश्चित तिथि की अनिवार्यता–

विनियमावली में अगस्त माह के प्रथम रविवार को तथा जनवरी माह के प्रथम रविवार को अनिवार्य रूप से बैठक बुलाये जाने की अनिवार्यता निश्चित की गई हैं। समस्त विद्यालयों के कार्यक्रमों में एक रूपता लाने हेतु यह कदम उठाया गया है। किन्तु व्यवहारिकता में यह संभव नहीं हो पा रहा हैं। अगस्त एवं जनवरी के प्रथम रविवारों को यदि बैठक सम्पन्न न हो सके तो बैठक न होने के का स्पष्ट्रीकरण जिला विद्यालय निरीक्षक को देने का प्रवधान है। और उसके स्थान पर अन्य रविवार को बैठक बुलायी जा सके, इसको शिथिल किया गया हैं। किन्तु विभिन्न विद्यालयों की विभिन्न समस्याऐ होती हैं। कभी–कभी छात्रों के प्रवेश कार्य भी सितम्बर तक चलते रहते हैं। और ऐसी स्थिति में न तो मतदाता सूची बन पाती है और न आम सभा की बैठक सम्पन्न हो पाती हैं। कहीं–कहीं यह भी देखने को मिला हैं। अध्यापक अभिभावक संघ के अध्यक्ष प्रथम रविवार को बैठक बुलाने की अनुमति ही नहीं देते। और बिना अध्यक्ष की अनुमति के बैठक का एजेण्डा नहीं निकाला जा सकता।

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि अगस्त और जनवरी की माह की अनिवार्यता तो स्वीकार की जावें, किन्तु यह छूट दी जावें कि उक्त महीनों के किसी भी रविवार या अन्य दिन उक्त आयोजन किये जा सकें। अधिक अच्छा यह होगा कि इन आयोजनों को कार्य दिवसों में ही कराया जाए, अवकाश के दिनों में नहीं।

(5) विद्यालय की वार्षिक योजनाओं का समावेश–

विद्यालयों में दो प्रकार की योजनाएँ बनायी जाती है, पहली लघु अवधि वाली दूसरी दीर्घ अवधि वाली। यह योजनाएँ भौतिक विकास से सम्बन्धित होती है। किन्तु शैक्षिक विकास की योजनाएँ लघु अवधि की लचीली योजनाएँ होती हैं। जिन्हें शिक्षक अपनी डायरी में अंकित करके दैनिक योजना, साप्ताहिक योजना, मासिक योजना, षट मासिक योजना और वार्षिक योजनाओं में विभक्त करता हैं। अध्यापक अभिभावक संघ का कार्य काल मात्र एक वर्ष का होता है। ऐसी स्थिति में दीर्घ कालीन भौतिक योजनाओं को उसमें शामिल नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार दैनिक पाठ्यक्रम की योजनाओं से लेकर वार्षिक योजनाओं को भी एक साथ शामिल करना पी० टी० ए० के लिये संभव नहीं। साथ ही वार्षिक योजना को लक्ष्यकर दैनिक योजनाओं का लचीलापन समाप्त कर देना उचित नहीं। अतः यह आवश्यक है, कि अध्यापक अभिभावक संघ शैक्षिक एवं

पाठ्यक्रम सम्बन्धी वार्षिक स्वरुप को ही अंगीकृत करें वरन् संघ की आम सभा की अगस्त और जनवरी में षट् मासिक बैठ्कों के आधार पर षट्–मासिक शैक्षिक योजनाएँ और उनका कार्यान्वयन मासिक बैठकों में दैनिक आधार पर निर्धारित करें।

अगर अभिभावक–अध्यापक संघ की इन कमियों और दोषों को सुधार दिया जाय तो अभिभावक–अध्यापक संघ बालक के सर्वांगीण विकास (जिसमें बालक का सम्पूर्ण शैक्षिक विकास, शारीरिक विकास आदि) हो सकता हैं। और इस सुधार को अभिभावक अध्यापक संघ के पुर्नसुधार के रूप में देखा जयेगा।

अभी तक इस विषय पर किसी भी प्रकार का शोधकार्य भारत में कहीं भी नहीं हुआ है। शोधार्थी ने वर्ष 1991–92 में एम0 एड0 परीक्षा हेतु आंशिक आवश्यकता पूर्ति के लिये विषय ''माध्यमिक विद्यालय में अभिभावक–अध्यापक–एसोसियेशन की विद्यालय विकास में भूमिका'' पर अपना लघु शोध प्रस्तुत किया था। भविष्य में इस विषय के विभिन्न पक्षों का दृष्टि में रखते हुए, शोध कार्य होते रहेंगे। जिससे अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन की शिक्षा तथा शिक्षालयों के साथ भागीदारी हो सके।
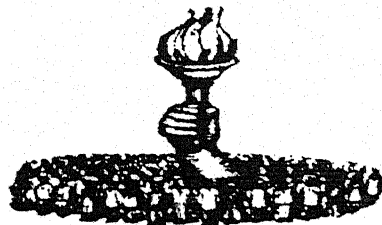
विनियमावली

विद्यालयों में अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन के गठन के संदर्भ में माध्यमिक शिक्षा परिषद द्वारा पारित अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन विनियमावली–1986 की स्वीकृति शासन ने अधिनियम की धारा–16 के अर्न्तगत प्रदान कर दी है। विनियमावली का प्रारूप निम्न है:–

परिषद के विनियम
भाग–दो–क

अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन विनियमावली, 1986

(1) (1) यह विनियमावली अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन विनियमावली, 1986 कहलायेगी।

(2) यह तुरन्त प्रवृत्त होगी, सिवाय विनिमय 7,8,9 और 10 के जो पहली जुलाई, 1987 से प्रवृत्त होगें।

(2) जब तक कि विषय या संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, इस विनियमावली में–

(1) "अधिनियम" का तात्पर्य इण्टरमीडिएट शिक्षा अधिनियम, 1921 से है।

(2) "अध्यापक" का तात्पर्य किसी संस्था के अध्यापक से है और इसके प्राचार्य, पुस्तकालयाध्यक्ष और तकनीकी सहायक भी सम्मिलित है।

(3) "अभिभावक" का तात्पर्य किसी संस्था में अध्ययनरत छात्र के स्थानीय अभिभावक से है।

(4) "अध्यक्ष", "उपाध्यक्ष", "उपमंत्री" या "कोषाध्यक्ष" का तात्पर्य इस विनियमावली के उपबंधों के अनुसार चुने गये एसोसियेशन की कार्यकारिणी के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, उपमंत्री या कोषाध्यक्ष से है।

(5) "एसोसियेशन" का तात्पर्य प्रत्येक संस्था में गठित अभिभावक–अध्यापक एसोसियेशन से है, जिसके सदस्य अभिभावकगण और अध्यापकगण होंगे।

(6) "संस्था" का तात्पर्य अधिनियम की धारा 2 के खण्ड (ख) में परिभाषित किसी इण्टरमीडिएट कॉलेज, हायर सेकेण्डरी स्कूल या हाईस्कूल से है।

(7) "प्रबंध समिति" का तात्पर्य किसी संस्था की प्रबंध समिति से है। जिन संस्थाओं में प्रबंध समिति नहीं है, उनमें प्रबंध समिति के संबंध में इस विनियमावली में किये गये उपबन्ध लागू नहीं होंगे।

(3) एसोसियेशन के निम्नलिखित उद्देश्य होंगे–

(1) संस्था और स्थानीय समाज के पारस्परिक संबंध को बढ़ाना।
(2) संस्था की समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना और स्थानीय समाज के भौतिक, आर्थिक और नैतिक सहयोग से उनके निराकरण के लिए प्रयास करना।
(3) संस्था में नई शैक्षिक योजनाओं के संचालन और क्रियान्वयन के लिए स्थानीय समाज का सहयोग प्राप्त करना।
(4) स्थानीय समाज की शैक्षिक एवं व्यावसायिक आवश्यकताओं को पहचान कर उनके अनुकूल नवीन विषयों का पाठ्य विषयों में समावेश करने की संस्तुति करना।
(5) ''विद्यालय यथार्थ में स्थानीय समाज का आलोक स्तम्भ है'' इस भावना को सम्पुष्ट करना।
(6) संस्था में अध्ययनरत छात्रों के सांस्कृतिक एवं शैक्षिक उन्नयन के लिए योजनायें एवं कार्यक्रम बनाने में मार्गदर्शन एवं सहयोग देना।
(7) प्रबन्ध समिति एवं प्रधानाचार्य को संस्था के सुचारू रूप से संचालन के लिए परामर्श एवं सहयोग देना, जिसमें संस्था के प्रबन्धकीय प्रशासन में हस्तक्षेप करना सम्मिलित नहीं है।

(4) एसोसियेशन के उद्देश्य की पूर्ति और उसके कार्य के सम्पादन के लिए एसोसियेशन की एक कार्यकारिणी होगी, जिसके पदाधिकारी और सदस्य निम्नलिखित होंगे–

(1) संरक्षक एवं मंत्री, संस्था का प्रधानाचार्य–पदेन।
(2) अध्यक्ष।
(3) उपाध्यक्ष।
(4) उप मंत्री (संयोजक)।
(5) कोषाध्यक्ष।
(6) पाँच सदस्य जिनमें दो अध्यापक, दो अभिभावक और एक प्रबंध समिति का प्रतिनिधि होगा।

प्रतिबंध यह है कि संस्था की प्रशासन योजना में एसोसियेशन के दो अभिभावक प्रतिनिधियों को प्रबंध समिति का सदस्य बनाये जाने की जब तक व्यवस्था नहीं हो जाती है, तब तक प्रबंध समिति का प्रतिनिधि कार्यकारिणी में इस शर्त के साथ लिया जायेगा कि प्रबंध समिति एसोसियेशन के दो अभिभावक प्रतिनिधि, जिन्हें इस विनियमावली में दी गई चुनाव प्रक्रिया के अनुसार आम सभा में चुना जायेग, को प्रबंध समिति में सहयोजित किये जाने के लिए तैयार होंगे।

(5) कार्यकारिणी के चुनाव में केवल वह व्यक्ति भाग ले सकेगा, जो–

(क) सम्बन्धित संस्था की सक्रिय सेवा में अध्यापक हो।

(ख) सम्बन्धित संस्था में अध्ययनरत किसी छात्र का स्थानीय अभिभावक हो। प्रतिबन्ध यह है, कि संबंधित संस्था में अध्ययनरत किसी छात्र के एक से अधिक स्थानीय अभिभावक हो, तो चुनाव में केवल एक ही अभिभावक भाग ले सकेगा।

(6) कार्यकारिणी के चुनाव में वह व्यक्ति भाग नहीं ले सकेगा, जो–

(1) विद्यालय की सक्रिय सेवा में अध्यापक न रह गया हो अर्थात् जो अध्यापक सेवा निवृत्त हो गया हो या निलम्बित हो या अन्य किसी प्रकार से संस्था की सक्रिय सेवा में न हो।

(2) ऐसा छात्र, जो सम्बन्धित संस्था में अध्ययनरत न हो, का अभिभावक

(3) एसोसियेशन का सदस्य अन्य किसी कारणों से न रह गया हो।

(7) एसोसियेशन के सदस्यों का नाम एक रजिस्टर में लिखा जायेगा, जिसमें अभिभावक का नाम, पता और छात्र का नाम एवं कक्षा, जिसका वह छात्र है, पहले लिखा जायेगा और बाद में अध्यापक का नाम लिखा जायेगा। यह रजिस्टर प्रत्येक शिक्षा वर्ष का अलग–अलग होगा और कार्यकरिणी के चुनाव के लिए इसे वोटर सूची समझा जायेगा।

(8) (अ) प्रत्येक वर्ष अगस्त मास के प्रथम रविवार को एसोसियेशन की आम सभा की बैठक आयोजित की जायगी, जिसमें कार्यकारिणी के पदाधिकारियों और सदस्यों का चुनाव किया जायेगा। यदि किसी कारणवश अगस्त मास के प्रथम रविवार को बैठक का आयोजन करना संभव न हो तो संरक्षक एवं मंत्री द्वारा उसकी लिखित सूचना जुलाई के तीसरे सप्ताह तक जिला विद्यालय निरीक्षक को विलम्ब का कारण बताते हुए देनी होगी।

(ब) संरक्षक एवं मंत्री के लिखित अनुरोध पर जिला विद्यालय निरीक्षक द्वारा नामित व्यक्ति पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थित रहेंगे।

(स) यदि किन्हीं कारणों से अगस्त मास के प्रथम रविवार को एसोसियेशन की आम सभा का आयोजन संभव नहीं हो सकेगा तो किसी अन्य तिथि को रविवार के दिन उसका आयोजन किया जा सकेगा किन्तु ऐसे आयोजन के लिए संरक्षक एवं मंत्री द्वारा एसोसियेशन के सभी सदस्यों को जुलाई के तीसरे सप्ताह तक विलम्ब का कारण बताते हुए 21 दिन की पूर्व सूचना देनी आवश्यक होगी। 21 दिन की गणना सूचना जारी किये जाने के दिनाँक से की जायेगी।

(9) (अ) अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, उपमंत्री, कोषाध्यक्ष, दो अभिभावक सदस्यों तथा दो अध्यापक सदस्यों का चुनाव एसोसियेशन की आम सभा, जिसकी अध्यक्षता संरक्षक एवं मंत्री द्वारा की जायेगी, में उपस्थित सदस्यों द्वारा सर्वानुमति से किया जायेगा।

स्पष्टीकरण– ''सर्वानुमति'' से तात्पर्य यह है कि कोई नाम किसी पद के लिए प्रस्तावित किया जाता है और उपस्थित सदस्यों में से एक चौथाई या उससे कम सदस्यों द्वारा ही विरोध किया जाता हैं, तो वह व्यक्ति जिसका नाम प्रस्तावित किया गया है सर्वनुमति से चुना गया माना जायेगा।

(ब) सर्वप्रथम अध्यक्ष पद के लिए नाम संरक्षक एवं मंत्री द्वारा पिछली कार्यकारिणी के परामर्श से प्रस्तावित किया जायेगा और उसपर सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी। यदि पहले प्रस्तावित नाम पर सर्वानुमति नहीं प्राप्त होती है तो दूसरा और तीसरा आदि नाम प्रस्तावित किया जायेगा, जब तक कि सर्वानुमति प्राप्त न हो जाए।

(स) अध्यक्ष का चुनाव हो जाने पर नये चुने गये अध्यक्ष द्वारा संरक्षक एवं मन्त्री के माध्यम से उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष और उपमंत्री के चुनाव के लिए क्रम से नाम प्रस्तावित किये जायेंगे और सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी।

(द) दो अभिभावक सदस्यों का नाम सभा में उपस्थित अभिभावकों द्वारा संरक्षक एवं मंत्री के माध्यम से प्रस्तावित किया जायेगा और उस पर सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी।

(य). दो अध्यापक सदस्यों में से एक का नाम सभा में उपस्थित अध्यापकों द्वारा संरक्षक एवं मंत्रियों के माध्यम से प्रस्तावित किया जायेगा और उस पर सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी। दूसरे अध्यापक सदस्य का नाम संरक्षक एवं मंत्री द्वारा प्रस्तावित किया जायेगा और उस पर सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी।

(र) दो अभिभावक सदस्य जो प्रबंध समिति के सदस्य होंगे, उनमें से एक का नाम सभा में उपस्थित अभिभावकों द्वारा संरक्षक एवं मंत्री के माध्यम से तथा दूसरे का नाम संरक्षक एवं मंत्री द्वारा प्रस्तावित किया जायेगा और उस पर सर्वानुमति प्राप्त की जायेगी।

(10) चुनाव हो जाने पर कार्यकारिणी के चुने गये पदाधिकारियों और सदस्यों की घोषणा संरक्षक एवं मंत्री लिखित सूचना द्वारा करेगा। सूचना की एक प्रति जिला विद्यालय निरीक्षक को, एक प्रति संस्था के प्रबन्धक को दी जायेगी और एक प्रति संस्था के सूचना पट पर चिपका दी जायेगी। इस सूचना द्वारा की गई घोषणा के फलस्वरूप कार्यकारिणी का गठन किया जायेगा।

(11) यदि किन्हीं कारणों से कार्यकारिणी के पदाधिकारियों अथवा सदस्य का स्थान रिक्त हो जाता है, तो उसे कार्यकारिणी द्वारा एसोसियेशन के सदस्यों में से आमंत्रित करके भरा जायगा। यह आमंत्रित कार्यकारिणी के सदस्यों के द्वारा सर्वसम्मति से किया जायेगा।

(12) कार्यकारिणी का कोई भी पदाधिकारी अथवा सदस्य संरक्षक एवं मंत्री को लिखित आवेदन-पत्र द्वारा त्याग-पत्र दे सकता है।

(13) किसी पदाधिकारी अथवा सदस्य का त्याग पत्र प्राप्त होने पर संरक्षक एवं मंत्री उसे कार्यकारिणी के विचार के लिए भेजेगा। कार्यकारिणी का विचार प्राप्त हो जाने के पश्चात् संरक्षक एवं मंत्री त्याग पत्र को स्वीकार करेगा।

(14) एसोसियेशन की आम सभा का आयोजन वर्ष में कम से कम दो बार होगा, जा सामान्यतः अगस्त के प्रथम रविवार और जनवरी मास के प्रथम रविवार को होगा। आम सभा की कार्य–सूची परिशिष्ट–1 में दिये गये विवरणानुसार होगी।

(15) एसोसियेशन की प्रथम आम सभा की अध्यक्षता संरक्षक एवं मंत्री करेंगे और उसके बाद की आम–सभा की अध्यक्षता अध्यक्ष द्वारा की जायेगी और अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपरिस्थति में संरक्षक एवं मंत्री द्वारा प्रस्तावित कार्यकारिणी के पदाधिकारी अभिभावक सदस्य द्वारा की जायेगी।

(16) कार्यकारिणी के प्रमुख कर्तव्य निम्नलिखित होंगे–

(1) अध्यापकों और अभिभावकों का कक्षावार सम्मेलन आयोजित करना। कक्षावार सम्मेलन का आयोजन वर्ष में कम से कम दो बार किया जायेगा जो सामान्यतः जनवरी और अगस्त मास के प्रथम रविवार को होगा। कक्षावार सम्मेलन की कार्यसूची परिशिष्ट–2 में दिये विवरणानुसार होगी।

(2) संस्था की समस्याओं का आंकलन करके उनका समाधान ढूंढ़ना।

(3) संस्था के लिए भौतिक एवं आर्थिक संसाधन जुटाना।

(4) कार्यानुभव (वर्क एक्स्पीरियन्स), नैतिक शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा के लिए स्थानीय औद्योगिक इकाइयों, निकायों, न्यासों आदि से सम्पर्क करके छात्रों के लिए सहयोग प्राप्त करना।

(5) संस्था के कार्यक्रमों से अभिभावकों को अवगत कराना और उनके कार्यान्वयन में सभी का सहयोग प्राप्त करना।

(6) संस्था के पाठ्येतर क्रिया–कलापों जैसे राष्ट्रीय और महापुरूषों के जन्म दिवस, धार्मिक त्योहार, सामुदायिक कार्य आदि के आयोजन में समाज का योगदान प्राप्त करना।

(7) संस्था की सम्पत्ति को संरक्षण प्रदान करना।

(8) संस्था के शैक्षिक उन्नयन हेतु कार्यक्रमों के आयोजन में सहयोग देना तथा श्रेष्ठ छात्रों, श्रेष्ठ अध्यापकों, श्रेष्ठ अभिभावकों को सम्मानित करना।

(9) संस्था के संचालन में, जिसमें संस्था के प्रबन्धकीय प्रशासन में हस्तक्षेप करना सम्मिलित नहीं है, प्रबन्ध समिति और प्रधानाचार्य को परामर्श और अपेक्षित सहयोग देना।

(17)(1) कार्यकारिणी की बेठक प्रत्येक मास के प्रथम रविवार को विद्यालय परिसर में होगी। इसके अतिरिक्त सात दिन की पूर्व सूचना जो अध्यक्ष और संरक्षक एवं मंत्री की सहमति से उपमंत्री (संयोजक) द्वारा दी जायेगी, पर किसी भी समय कार्यकारिणी की बैठक बुलाई जा सकेगी। कार्यकारिणी की बैठक की कार्य–सूची परिशिष्ट–3 में दिये गये विवरणानुसार होगी।

(2) कार्यकारिणी मासिक बैठक में अगले मास का कार्यक्रम तैयार करेगी और पिछले महीने के निर्णयों के कार्यान्वयन की प्रगति को देखेगी।

(3) कार्यकारिणी का निर्णय सर्वसम्मति से लिया जायेगा और सर्वसम्मति से निर्णय न हो सकने की दशा में निर्णय बहुमत के आधार पर लिया जायेगा। ऐसी स्थिति में आवश्यकतानुसार अध्यक्ष को अपने मत के अतिरिक्त एक निर्णायक मत दे सकने का अधिकार होगा।

(18) एसोसियेशन की आम सभा और कार्यकारिणी की बैठक का कार्यवृत संरक्षक एवं मंत्री द्वारा नामित कार्यकारिणी के अध्यापक सदस्य द्वारा अलग–अलग रजिस्टरों में लिखा जायेगा तथा अध्यक्ष द्वारा अनुमोदित किया जायेगा। दोनों कार्यवृत रजिस्टर संरक्षक एवं मंत्री के संरक्षण में रखे जायेंगे।

(19) जिला विद्यालय निरीक्षक और उससे उच्च अधिकारी या कार्यकारिणी के आमंत्रण पर बुलाये गये व्यक्ति कार्यकारिणी की बैठक अथवा एसोसियेशन के निवेदन पर राय दे सकते है।

(20) कार्यकारिणी की विशेष बैठक या आम सभा की विशेष बैठक कार्यकारिणी अथवा एसोसियेशन के एक चौथाई सदस्यों की प्रार्थना पर संरक्षण एवं मंत्री द्वारा बुलाई जा सकती है।

(21) एसोसियेशन तथा कार्यकारिणी का समस्त कारबार हिन्दी में सम्पादित किया जायेगा।

(22)(1) कार्यकारिणी प्रत्येक मास कक्षा 9 और 11 में उच्चतम अंक प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपनी बैठक में आमंत्रित कर छात्र समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर उनका समाधान करेगी।

(2) कार्यकारिणी खेलकूद और सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि में विशिष्ट रुचि रखने वाले छात्रों को समय–समय पर बैठक में आमंत्रित करेगी और उनकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर उनका समाधान करेगी।

(23) शैक्षिक उन्नयन सम्बन्धी विषयों पर विचार करने के लिये कार्यकारिणी प्रत्येक कक्षा अध्यापक को समय-समय पर आमंत्रित करेगी और विषयगत समस्या का समाधान करने के सम्बन्ध में प्रयास करेगी।

(24) कार्यकारिणी समय-समय पर आवश्यकतानुसार स्वास्थ्य विभाग, सार्वजनिक निर्माण विभाग, वन विभाग, खेलकूद निदेशालय, समाज कल्याण विभाग, सामुदायिक विकास विभाग या विकास कार्यो से सम्बन्धित अन्य एजेन्सीज के प्रतिनिधि को अपनी बैठक मुं विचार विमर्श के लिये आमन्त्रित कर सकती है।

(25) (1) कार्यकारिणी का कार्यकाल समान्यतः एक वर्ष का होगा किन्तु विशेष परिस्थितियों में सामान्य सभा के अनुमोदन पर उसका कार्यकाल अधिकतम एक वर्ष तक के लिए बढ़ाया जा सकता है।

(2) संरक्षक एवं मंत्री का यह उत्तरदायित्व होगा कि प्रत्येक वर्ष जुलाई मास में कार्यकारिणी के निर्वाचन के सम्बन्ध में आवश्यक तैयारी कर लें और अगस्त के प्रथम रविवार को कार्यकारिणी के पदाधिकारियों और सदस्यों का चुनाव करायें।

(26) कार्यकारिणी संस्था के लिए समाज के उदार और सम्पन्न व्यक्तियों से स्वैच्छिक दान लेन के लिए अधिकृत होगी।

(1) दान प्राप्त करने के लिए संस्था के एसोसियेशन के नाम पर छपी हुई रसीद दी जायेगी। इस रसीद पर कार्यकारिणी के संरक्षक एवं मंत्री और अध्यक्ष हस्ताक्षर होंगे।

(2) एसोसियेशन कोष के नाम पर अनुसूचित बैंक अथवा पोस्ट आफिस में खाता खोला जावेगा, जिसमें प्राप्त धनराशि को जमा किया जायेगा। खाते का रख-रखाव संरक्षक एवं मंत्री द्वारा किया जायेगा। पांच सौ से अधिक धनराशि का आहरण कोषाध्यक्ष और संरक्षक एवं मंत्री के संयुक्त हस्ताक्षर से किया जायेगा।

(3) एसोसियेशन कोष में जमा धनराशि का उपयोग कार्यकारिणी द्वारा संस्था की समस्याओं का निराकरण, आवश्यकताओं की पूर्ति एवं विकास कार्य में किया जायेगा।

(4) एसोसियेशन कोष में जमा धनराशि तथा उसमें से किये गये व्यय का लेखा संरक्षक एवं मंत्री के पर्यवेक्षण में एक रोकड़ बही में रखा जायेगा। यह रोकड़ बही मांगे जाने पर जिला विद्यालय निरीक्षक को संरक्षक एवं मंत्री के माध्यम से प्रस्तुत की जायेगी।

(27) प्रत्येक वर्ष लेखों का संप्रेक्षण करने के लिए कार्यकारिणी द्वारा किसी जानकार अभिभावक को नियुक्त किया जायेगा, जो कार्यकारिणी का सदस्य नहीं होगा। यह नियुक्ति प्रत्येक वर्ष सितम्बर मास तक की जायेगी और प्रत्येक मास के लेखों का संप्रेक्षण साथ-साथ कराया जायेगा। सामान्य सभा में उक्त लेखों एवं संप्रेक्षण आख्या का विवरण एसोसियेशन के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा।

(28) (1) एसोसियेशन के दो अभिभावक प्रतिनिधि जिन्हें इस विनियमावली में दी गई चुनव प्रक्रिया के अनुसार आम सभा में चुना जायेगा, संस्था की प्रबंध समिति की बैठक में विशेष आमंत्री अथवा सदस्य के रूप में भाग लेंगें।

(2) संस्था की प्रबंध समिति का यह दायित्व होगा कि प्रबंध समिति की प्रशासन योजना में दो अभिभावक सदस्यों की सदस्यता के लिए प्रावधान करायें और जब तक ऐसा प्रावधान नहीं किया जाता है तब तक इस विनियमावली में दी गई चुनाव प्रक्रिया के अनुसार आम सभा में चुने गये दो अभिभावक सदस्यों की समिति में विशेष आमंत्री के रूप में बुलायें।

(29) संस्था में गठित की जाने वाली विभिन्न विषय समितियों, खेलकूद और सांस्कृतिक कार्य से सम्बन्धित समितियों में प्रत्येक विषय अथवा पाठ्येतर कार्यक्रमों में रूचि रखने वाले अभिभावकों में से एक एक सदस्य को सम्मिलित किया जायेगा। इस प्रकार अभिभावकों के नामांकन के प्रस्ताव संरक्षण एवं मंत्री द्वारा कार्यकारिणी में प्रस्तुत किये जायेंगे और उसका अनुमोदन प्राप्त किया जायेगा।

(30)एसोसियेशन की आम सभा में अथवा कार्यकारिणी की बैठक में अधिकतम उपस्थित अभिभावक सदस्य तथा संस्था के लिए अधिकतम सहयोग देने वाले अभिभावकों को संस्था द्वारा समय-समय पर सम्मानित किया जायेगा। कार्यकारिणी के पद धारक एवं सदस्यों के चुनाव में ऐसे ही अभिभावकों को उनका नाम प्रस्तावित कर वरीयता दी जायेगी।

(31)(1) प्रत्येक वर्ष मास अगस्त के प्रथम रविवार को आयोजित एसोसियेशन की आम सभा कार्यकारिणी के चुनाव एवं अन्य कार्यवाही के उपरान्त कक्षावार अभिभावक अध्यापक सम्मेलनों में विभक्त हो जायेगी और प्रत्येक कक्षा के छात्रों की आगामी सत्र के पढ़ाई के सम्बन्ध में योजना बनायेगी जिसका कार्यान्वयन संस्था की प्रबन्ध समिति एवं अभिभावक अध्यापक एसोसियेशन की कार्यकारिणी द्वारा सुनिश्चित किया जायेगा।

(2) यदि ऐसोसियेशन द्वारा प्रस्तावित किसी योजना अथवा कार्यक्रमों के सम्बन्ध समिति सहमत न हो अथवा अन्य किसी बात पर

एसोसियेशन और प्रबन्ध समिति में मतभेद हो तो संस्था के संरक्षक एवं मंत्री दोनों के विचारों का विवरण देते हुए अपनी आख्या के साथ जिला विद्यालय निरीक्षक को भेजेंगें और इस सम्बन्ध में जिला विद्यालय निरीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा।

(3) उन संस्थाओं में जहां प्रबन्ध समिति नहीं है। वहां यदि एसोसियेशन द्वारा प्रस्तावित किसी योजना के सम्बन्ध में प्रधानाचार्य सहमत न हों अथवा अन्य किसी बात पर एसोसियेशन और प्रधानाचार्य में मतभेद हों, तो विवाद जिला विद्यालय निरीक्षक को सन्दर्भित किया जायेगा और इस सम्बन्ध में जिला विद्यालय निरीक्षक का निर्णय अन्तिम होगा।

परन्तु यह प्रावधान संस्था की प्रबन्धकीय प्रशासनिक व्यवस्था से सम्बन्धित मामलों में लागू नहीं होगा।

(32) इस विनियमावली में आवश्यकतानुसार संशोधन शासन की पूर्वानुमति से बोर्ड द्वारा किया जा सकेगा।

अभिभावक-अध्यापक एसोसियेशन की अगस्त माह के प्रथम रविवार तथा जनवरी माह में प्रथम रविवार को अयोजित आमसभा की बैठक का एजेण्डा

परिशिष्ट-1

1- गत आम सभा के कार्यकाल का पढ़ा जाना।
2- उसकी पुष्टि, प्रधानाचार्य द्वारा पिछली बैठक के बाद से सम्पन्न कार्यकलापों की रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना।
3- अभिभावक-अध्यापक एसोसियेशन के उद्देश्यों का पढ़ा जाना एवं यह विचार किया जाना, कि किस हद तक इनकी पूर्ति हो रही हैं।
4- वार्षिक विद्यालय पंचाग की घोषणा एवं उपस्थित व्यक्तियों को उसकी विशेषताओं से अवगत किया जाना (अगस्त की आम सभा) तथा वार्षिक विद्यालय पंचाग के अनुपालन की स्थिति (जनवरी की आम सभा)।
5- गृह तथा परिषदीय परीक्षाओं के परीक्षाफलों की चर्चा एवं उनमें सुधार लाने के विचार।
6- कोषाध्यक्ष द्वारा वार्षिक लेखा रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना।
7- संप्रेक्षक द्वारा वार्षिक लेखा की आडिट रिपोर्ट प्रस्तुत किया जाना।
8- कार्यकारणी का चुनाव (केवल अगस्त माह की आम सभा में)।
   (क) पिछली कार्यकारिणी के परामर्श से प्रधानाचार्य द्वारा अभिभावकों में से वर्ष के लिये अभिभावक अध्यापक एसोसियेशन के अध्यक्ष का नाम प्रस्तावित किया जाना।
   (ख) आम सभा द्वारा अध्यक्ष का सर्वानुमति से चुनाव।

(ग) निर्वाचित अध्यक्ष द्वारा क्रम से अभिभावकों में से उपाध्यक्ष, कोषाध्यक्ष तथा उपमंत्री के लिये प्रधानाचार्य के माध्यम से नाम प्रस्तावित किया जाना तथा उनका आम सभा द्वारा सर्वानुमति से चुनाव।

(घ) उपस्थित अध्यापकों में से किसी अध्यापक द्वारा प्रधानाचार्य के माध्यम से दूसरे अध्यापक प्रतिनिधि का नाम प्रस्तावित किया जाना तथा आम सभा द्वारा उसका सर्वानुमति से चुनाव।

(च) एक अध्यापक प्रतिनिधि के लिये प्रधानाचार्य द्वारा नाम प्रस्तावित किया जाना तथा आम सभा द्वारा उसका सर्वानुमति से चुनाव।

(छ) उपस्थित अभिभावकों में से किसी अभिभावक द्वारा प्रधानाचार्य के माध्यम से पहिले एक अभिभावक सदस्य का नाम प्रस्तावित किया जाना एवं आम सभा द्वारा उसका सर्वानुमति से चुनाव तथा फिर दूसरे उपस्थित अभिभावक द्वारा दूसरे अभिभावक सदस्य का नाम उपरोक्त विधि से प्रस्तावित किया जाना एवं आम सभा द्वारा उसका सर्वानुमति से चुनाव।

(ज) प्रबन्ध समिति के लिये दो अभिभावक सदस्यों का विधिवत् सर्वानुमति से चुनाव।

9- अगली आम सभा की तिथि की घोषणा।

कक्षावार अभिभावक-अध्यापक सम्मेलन हेतु प्रस्तावित एजेण्डा

परिशिष्ट-2

(1) शिक्षण स्तर में सुधार के लिये अपनाये गये कार्यक्रमों की जानकारी एवं समीक्षा।
(2) कक्षा के परीक्षाफल की समीक्षा।
(3) पाठ्यक्रम का समय सारिणी के अनुसार पूर्ण किये जाने की योजना एवं समीक्षा।
(4) सत्रवार अध्यापन हेतु पाठांश का निर्धारण एवं उसकी घोषणा।
(5) कमजोर छात्रों के लिये निदानात्मक व्यवस्था पर चर्चा।
(6) कक्षा के समस्याग्रस्त छात्रों के अध्यापकों से विद्यालय में सम्पर्क एवं अनुसरण के कार्यक्रम।
(7) कक्षा के समस्याग्रस्त बिन्दुओं में सुधार के सुझावों पर विचार।
(8) उत्कृष्ट छात्रों की पहचान एवं उनके विकास की योजनाओं पर विचार।
(9) प्रतिभावान छात्रों द्वारा पढ़ाई में कमजोर छात्रों को सहायता देने की योजना बनाना व उस पर विचार।
(10) समाजोपयोगी उत्पादक कार्य, नैतिक शिक्षा एवं व्यावसायिक शिक्षा की योजना बनाना व उनके अभ्यास की व्यवस्था पर विचार।

कार्यकारिणी की बैठकों के लिए प्रस्तावित एजेण्डा

परिशिष्ट-3

(1) गत बैठक के कार्यवृत्त की पुष्टि।
(2) पिछली बैठक/बैठकों में लिये गये निर्णयों के अनुपालन की स्थिति।

(3) अगले माह के लिये शैक्षिक उन्नयन की योजनाओं पर विचार तथा कार्यकारिणी के उद्देश्यों के अनुरूप अन्य बिन्दुओं व योजनाओं पर विचार व निर्णय लिया जाना।

(4) विद्यालय के लिये अपनाये गये शैक्षिक कार्यक्रमों का मूल्यांकन।

(5) वित्तीय आवश्यकताओं की पहचान और स्वैच्छिक संसाधन उपलब्ध कराये जाने पर विचार।

(6) कक्षा 9 व कक्षा 11 के सर्वोच्चय स्थान प्राप्त करने वाले छात्र/छात्राओं एवं खेल एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में विशेषता प्राप्त छात्रों/छात्राओं को आमंत्रित कर छात्र समस्याओं पर विचार व उनका समाधान।

(7) उत्तम शिक्षण एवं प्रशिक्षण कार्य के लिये अध्यापकों को प्रोत्साहित करने का कार्यक्रम।

(8) उत्कृष्ट छात्रों एवं उनके अभिभावकों को सम्मानित एवं अलंकृत करने के कार्यक्रमों का निर्धारण।

(9) समाजोपयोगी उत्पादक कार्य, नैतिक शिक्षा एवं व्यवसायिक शिक्षा की कक्षावार योजना पर विचार व उनके अभ्यास की व्यवस्था किया जाना।

(10) कार्यकारिणी की अगली बैठक की तिथि तय करना।
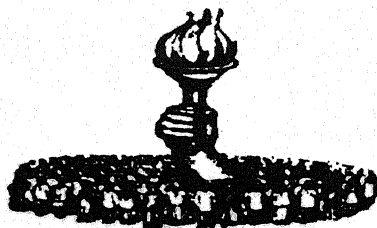
संदर्भित ग्रन्थों की सूची

लेखक	पुस्तक	प्रकाशन
1.ब्राउन, जे0 एफ0	एजूकेशनल सोसियोजोजी	प्रिटिंग्स हाल्ट इन्स,19 1961
2.चौबे, एस0 पी0	सेकेण्ड्री एजूकेशन फॉर इण्डिया	आत्मा राम एण्स सन्स 1956, न्यू देहली।
3.डिवी, जॉन	डिमोक्रेससी एण्ड एजूकेशन	द मे मिलन कं0 न्यूयार्क, 1916
4.फिलपैट्रिक विवियम, एच0	एजूकेशन फार ए चेजिंग सिविलीजेशन	,, ,, 1926
5.माथुर, एस0एस0	ए सोसियोलाजिक्स एप्रोच टू इण्डियन एजूकेशन	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
6.आखे, के0सी0	एजूकेशन सोसाइटी	लीडस 1962
7.यूलिच, राबर्ट न्यूयार्क	फण्डामेन्टलस-ऑफ डिमोक्रेटिक एजूकेशन	अमेरिकन बुक 1940
8.चौबे, सरयू प्रसाद	शिक्षा के समाजशास्क्त्रीय आधार	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा,1987
9.प्रेमनाथ	शिक्षा के सिद्धान्त, दार्शनिक एवं समाजिक	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद 1969
10.किन्डर्ड, एल0 डब्ल्यू0	स्कूल पब्लिक रिलेशन्स	इंगिल बुक क्रिश्चन्स प्रिटिंग्स 1957
11.चम्बर, एल0एम0 एण्ड किन्डर्ड एल0 डब्ल्यू	द टीचर्स एण्ड अर्गनाइजेशन (थर्ड एडीसन)	,, ,, 1960
12.क्राइस्ट पोल एल0 एम0	द प्रिंसिपल एण्ड द इम्प्रूवमेंट ऑफ रिलेशन्सशिप	द ब्लुटिन ऑफ द एन0एस0एस0पी0 वाल्युग 41नं0
13.ग्रियन्थस डी0एफ0	हयूमन रिलेशन्स इन स्मूय एडमिनिस्ट्रेशन- 1956	231 अक्टूबर 1957

14.श्रीवास्तव डी0एन0एण्ड सिंह रणजीत	आधुनिक समाजमनोविज्ञान	भार्गव प्रकाशन आगरा,
15.रुहेला एस0पी0एण्ड व्यास	सोसिलाजीकल फाउण्डेशन ऑफ एजूकेशन इन कान टेम्परेरी इंण्डिया	धनपत राय एण्ड सन्स न्यू दिल्ली
16.श्रीनिवास एम0ए0	सोसल चेंज इन मॉर्डन इंण्डिया	एलाइऊ प्रकाशन बम्बई।
17.मेहता जे0एस0	डेमोक्रेटिक डीसेन्ट्रेलाइजेशन	द इंडियन एइअर बुक ऑफएजूकेशन न्यू दिल्ली।
18.एल0एल0 ओड़	डेमोक्रेटिक डीसेन्ट्रेलाइजेशन एण्ड इट्स इम्पेक्ट ऑन एजूकेशन	जैन ब्रदर्स, न्यू दिल्ली।
19.लक्ष्मीलाल के0 ओड़ (सम्पादक)	शिक्षा के नूतन आयाम	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी-जयपुर।
20.रुहेला सत्यपाल	"भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र"	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

21.एजूकेशन एण्ड नेशनल डब्लपमेंट द रिपोर्ट ऑफ द एजूकेशन कमीशन 1964-68	मिनिस्ट्र ऑफ एजूकेशन, 1967
22. नेशनल पालिसी ऑन एजूकेशन 1986, न्यू दिल्ली	गर्वनमेण्ट ऑफ इंडिया।
23. प्रोग्राम ऑफ एक्शन	गर्वनमेण्ट ऑफ इंडिया।
24. एजूकेशन इन द स्कूल कॉनटेक्ट	एन0सी0ई0आर0टी0 न्यू दिल्ली।
25. ऐजिंग कन्सेप्शन इन एजूकेशनल एडमिनिस्ट्रेशन	फोर्टीफिफ्थ इमर बुक पार्ट-2 नेशनल सोसाइटी फार द स्टेडी ऑप एजूकेशन 1946

26. माध्यम-1	उत्तर प्रदेश निदेशालय प्रकाशन लखनऊ।
27. माध्यम-2	उत्तर प्रदेश निदेशालय प्रकाशन लखनऊ।
28. माध्यम-3	उत्तर प्रदेश निदेशालय प्रकाशन लखनऊ।
29. शिक्षा राजज्ञा संग्रह	माध्यमिक शिक्षक संघ उ0प्र0 प्रकाशन।
30. शैक्षिक संगोष्ठी	उ0प्र0 प्रधानाचार्य परिषद्।
31. प्रधानाचार्य परिषद संगोष्ठी	6,7,8 जून 1986 प्रकाशन उ0प्र0 निदेशालय
32. पी0टी0ए0 मैगजीन	अभिभावक-अध्यापक-संघ भारत सी-1/25-26
33. बालविकास एवं उनकी समस्या	विशेषांक 1980 विनोद पुस्तक भण्डार आगरा।
34. एजूकेशन ऑफ ए चेंजेन्ज	भारत सरकार भारत।